

1. श्री अनादिनिधन महामन्त्र णमोकार मन्त्र

णमो अरिहंताणं	अर्हंतों को नमस्कार
णमो सिद्धाणं	सिद्धों को नमस्कार
णमो आइरियाणं	आचार्यों को नमस्कार
णमो उवज्झायाणं	उपाध्यायों को नमस्कार
णमो लोए सव्व साहूणं	लोक में सभी साधुओं को नमस्कार

चत्वारि मंगलं

लोक में चार ही मंगल होते हैं

अरिहंता मंगलं	श्री अरिहंत मंगल हैं।
सिद्धा मंगलं	श्री सिद्ध मंगल हैं।
साहू मंगलं	सर्व साधु मंगल हैं।
केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलं	केवली भगवान के द्वारा कहा गया धर्म मंगल है।

चत्वारि लोगुत्तमा

लोक में चार ही उत्तम हैं

अरिहंता लोगुत्तमा	लोक में अरिहंत उत्तम हैं।
सिद्धा लोगुत्तमा	लोक में सिद्ध उत्तम हैं।
साहू लोगुत्तमा	लोक में सर्व साधु उत्तम हैं।
केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो	केवली भगवान के द्वारा कहा गया धर्म लोक में उत्तम है।

चत्वारि सरणं पव्वज्जामि

मैं चार शरणों को प्राप्त होता हूँ

अरिहंते सरणं पव्वज्जामि	मैं अरिहंत की शरण को प्राप्त होता हूँ।
सिद्धे सरणं पव्वज्जामि	मैं सिद्धों की शरण को प्राप्त होता हूँ।
साहू सरणं पव्वज्जामि	मैं सर्व साधु की शरण को प्राप्त होता हूँ।
केवलि पण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि	मैं केवली भगवान के द्वारा कहे गये धर्म की शरण को प्राप्त होता हूँ।

एसो पंच णमोयारो सब्बपावप्पणासणो।

मंगलाणं च सब्बेसिं पढमं हवई मंगलं।।

यह णमोकार महामंत्र सर्व पापों का नाश करने वाला है, सम्पूर्ण मंगलों में प्रथम मंगल है एवं इसके पढ़ने से मंगल होता है।

2. श्री वज्रपंजरस्तोत्रम्

परमेष्ठी-नमस्कारं, सारं नवपदात्मकम्।
आत्मरक्षाकरं मन्त्रं, पंजरं संस्मराम्यहम्॥1॥
ॐ णमो अरहंताणं शिरस्कन्धसिरसंस्थितम्।
ॐ णमो सिद्धाणं मुखे मुखपटंवरम्॥2॥
ॐ णमो आइरियाणं अंगं रक्षाति सायिणीम्।
ॐ णमो उवज्झायाणं आयुधं हस्तयोर्दृढम्॥3॥
ॐ णमो लोए सव्वसाहूणं मोचके पादयोः शुभे।
एसो पंच णमोयारो शिववज्रमयी तले॥4॥
सव्वपावप्पणासणो शिवज्जो वज्रमयो मही।
मंगलाणं च सव्वेसिं खातिरागादि खातका॥5॥
स्वाहा पंच पदं ज्ञेयं, पढमं हवइ मंगलम्।
वज्जो परिवज्रमयं ज्ञेयं विधानं देह रक्षणे॥6॥
महाप्रभाव रक्षेयं क्षुद्रोपद्रव-नाशिनी।
परमेष्ठिपदोद्धुत्ता कथिता पूर्वसूरिभिः॥7॥
यश्चैवं कुरुते रक्षा परमेष्ठि पदैः सदा।
तस्य तस्माद् भयं व्याधिराधिश्चापि कदापि न॥8॥

॥ इति श्री वज्रपंजरस्तोत्रम् ॥

3. श्री नव देवतास्तोत्रम् (मंगलाष्टक)

(आचार्य श्री सुधर्मसागर विरचित)

अर्हन्त

श्रीमन्तो जिनपा-जगत्त्रय-नुता दोषै-विमुक्तात्मकाः।
लोकालोक-विलोकनैक चतुराशुद्धाः परं निर्मलाः॥
दिव्यानन्त-चतुष्टयादिक-युताः, सत्य स्वरूपात्मकाः।
प्राप्तयै-भुवि-प्रातिहार्य-विभवाः कुर्वन्तु नो मंगलम्॥1॥

सिद्ध

श्रीमन्तो नृ-सुरा-सुरेन्द्र-महिता, लोकाग्रसंवासिनः।
नित्याः सर्वसुखाकरा भयहरा विश्वेषु कामप्रदाः॥
कर्मातीत-विशुद्धभावसहिता ज्योतिः स्वरूपात्मकाः।
श्री सिद्धा जननार्ति-मृत्युरहिताः कुर्वन्तु नो मंगलम्॥2॥

आचार्य

पंचाचार-परायणाः सुविमलाश्चारित्र संद्योतकाः।
अर्हद्रूपधराश्च निःस्पृहपराः कामादि-दोषोज्झिताः॥
बाह्याभ्यन्तर-संगमोहरहिताः शुद्धात्मसंराधकाः।
आचार्या नर-देव-पूजितपदाः कुर्वन्तु नो मंगलम्॥3॥

उपाध्याय

वेदांगं निखिलागमं शुभतरं पूर्णं पुराणं सदा।
सूक्ष्मा-सूक्ष्म समस्ततत्त्वकथकं श्री द्वादशांगं शुभम्॥

स्वात्मज्ञानविवृद्धये गतमलाः येऽध्याय-पन्तीश्वराः।
निर्द्वन्द्वावरपाठकाः सुविमलाः कुर्वन्तु नो मंगलम्॥4॥

साधु

त्यक्त्वाशां भव-भोग-पुत्र-तनुजां मोहं परं दुस्त्यजम्।
निःसंगाकरुणालयाश्च विरता दैगम्बरा धीधनाः॥
शुद्धाचार-रतानिजात्म-रसिका, ब्रह्म-स्वरूपात्मका।
देवेन्द्रैरपि पूजिताः सुमुनयः कुर्वन्तु नो मंगलम्॥5॥

जिन धर्म

जीवानाम-भयप्रदः सुसदयः संसार दुःखापहः।
सौख्यं-योनित्रां ददाति सकलं दिव्यं मनोवाञ्छितम्॥
तीर्थेशैरपि धारितोद्यनुपमः स्वर्मोक्षसंसाधकः।
धर्मः सोऽत्र जिनोदितो हितकरः कुर्यात्सदा मंगलम्॥6॥

जिनागम

स्याद्वादांकथरं त्रिलोक-महितं देवैः सदा संस्तुतम्।
सन्देहादि-विरोधभाव-रहितं सर्वार्थ-सन्देशकम्॥
याथातथ्यमजेय-मार्यकथितं, कोटिप्रभा-भासितम्।
श्रीमज्जैन-सुशासनं हितकरं कुर्यात्सदा मंगलम्॥7॥

जिन चैत्य

सौम्याः सर्वविकारभावरहिताः शान्तिस्वरूपात्मकाः।
शुद्धध्यानमयाः प्रशान्तवदनाः श्रीप्रातिहार्यान्विताः॥
स्वात्मानन्दविकाशकाश्च सुभगाश्चैतन्यभावावहाः।
पंचानां परमेष्ठिनां हि कृतयः कुर्वन्तु नो मंगलम्॥8॥

जिन चैत्यालय

घण्टा-तोरण-दाम-धूपघटकै राजन्ति सन्मंगलैः।
स्तोत्रैश्चित्त-हरै-र्महोत्सव शतैर्वादित्र संगीतकैः॥
पूजारम्भ-महाभिषेकयजनैः पुण्योत्करैः सत्क्रियैः।
श्री चैत्यायतनानि तानि कृतिनां कुर्वन्तु सन्मंगलम्॥9॥

निखिल नवदेवता

इत्थं मंगलदायका जिनवराः सिद्धाश्च सूर्यादयाः।
पूज्यास्ता नवदेवता अघहरास्तीर्थोत्तमास्तारकाः॥
चारित्रोज्वलतां-विशुद्धशमतां बोधिं समाधिं तथा।
श्री जैनेन्द्र 'सुधर्म'-मात्मसुखदं कुर्वन्तु सन्मंगलम्॥10॥

॥ इति श्री नवदेवतास्तोत्रम्॥

4. श्री मंगलाष्टकस्तोत्रम्

पंच परमेष्ठी भगवान् मंगलं करें

(शार्दूलविक्रीडित)

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः सिद्धाश्च सिद्धीश्वराः
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः पूज्या उपाध्यायकाः ।
श्रीसिद्धान्त-सुपाठकाः मुनिवराः रत्नत्रयाराधकाः
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मंगलम् ॥1॥

अन्वयार्थः : इन्द्रमहिताः – इन्द्रों द्वारा पूजित, अर्हन्तः भगवन्त – अर्हन्त भगवान्, च – और, सिद्धीश्वराः – सिद्धि के स्वामी, सिद्धाः – सिद्ध भगवान्, जिनशासनोन्नतिकराः – जिनशासन को प्रकाशित करने वाले, आचार्याः – आचार्य परमेष्ठी, श्रीसिद्धान्तसुपाठकाः – श्रीसिद्धान्त को भली प्रकार से पढ़ाने वाले, पूज्या उपाध्यायकाः – पूज्य उपाध्याय परमेष्ठी, रत्नत्रयाराधकाः – रत्नत्रय के आराधक साधु परमेष्ठी, एते पञ्च – ये पाँच, परमेष्ठिनः परमेष्ठी, प्रतिदिनं – प्रतिदिन, नो मंगलम् – हम सबका मंगल, कुर्वन्तु – करें।

भावार्थः : चतुर्निकाय के देवों द्वारा एवं शत इन्द्रों द्वारा जिनकी पूजा की गई है, ऐसे अर्हन्त भगवान् सिद्धि अर्थात् मोक्ष सिद्धि के स्वामी ऐसे सिद्ध भगवान्, जिनशासन अर्थात् श्रीजिन नमोऽस्तु शासन को जो प्रकाशित करने वाले हैं – ऐसे आचार्य परमेष्ठी, सिद्धान्त को सुव्यवस्थित पढ़ाने वाले, समझाने वाले ऐसे पाठक अर्थात् उपाध्याय परमेष्ठी एवं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय के आराधक ऐसे साधु परमेष्ठी प्रतिदिन हम सभी के पापों को नष्ट करके मंगलता प्रदान करें। पंच परमेष्ठी हम सबका मंगल करें।

श्रीमन्नम्र – सुरासुरेन्द्र – मुकुट – प्रद्योत – रत्नप्रभा
भास्वत्पादनखेन्दवः प्रवचनम्भोधीन्दवः स्थायिनः ।
ये सर्वे जिनसिद्ध-सूर्यनुगतास्ते पाठकाः साधवः,
स्तुत्या योगिजनैश्च पञ्चगुरवः कुर्वन्तु नो मंगलम् ॥2॥

अन्वयार्थ : श्रीमत् - लक्ष्मी से युक्त, नम्र - नम्रीभूत, सुरासुरेन्द्र - देवेन्द्रों और असुरेन्द्रों के, मुकुट प्रद्योत - मुकुटों के चमकदार, रत्नप्रभा भास्वत् - रत्नों की कान्ति से भास्वत (येन) जिनके, पादनखेन्दवः - चरणों के नखरूपी चन्द्रमा हैं, प्रवचनाम्भो-धीन्दवः - जो प्रवचन रूपी समुद्र को वृद्धिगत करने के लिए चन्द्रमा के समान हैं। स्थायिनः - जो अपने स्वरूप में स्थित रहते हैं, योगिजनैः स्तुत्या - योगीजन जिनकी स्तुति करते हैं, ये सर्वे - ये सभी, जिनसिद्ध अर्हन्त, सिद्ध, सूर्यनुगताः - आचार्य सहित, पाठकाः - उपाध्याय और, साधवः - साधुजन, नो मंगलम् - तुम्हारा मंगल, कुर्वन्तु - करें।

भावार्थ : लक्ष्मी की अत्यन्त शोभा से युक्त नमस्कार करते हुए देवेन्द्रों व सुरेन्द्रों के मुकुटों के चमकदार रत्नों की कान्ति से जिनके श्री चरणों के नखरूपी चन्द्रमा की ज्योति स्फुरायमान हो रही है। जो प्रवचन रूप सागर की वृद्धि करने के लिए स्थायी चन्द्रमा के समान हैं एवं जो अपने स्वरूप में स्थित रहते हैं, योगीजन जिनकी स्तुति करते हैं - ऐसे अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु - ये पंच परमेष्ठी भगवन् हम सबका मंगल करें।

रत्नत्रय आदि धर्म हमारा मंगल करे

सम्यग्दर्शन-बोध-वृत्तममलं रत्नत्रयं पावनं,
मुक्तिश्री नगराधिनाथ-जिनपत्युक्तोऽपवर्गप्रदः ।
धर्मः सूक्तिसुधा च चैत्यमखिलं चैत्यालयं श्रयालयं,
प्रोक्तं च त्रिविधं चतुर्विधममी कुर्वन्तु नो मंगलम् ॥३॥

अन्वयार्थ : अमलम् - निर्मल, सम्यग्दर्शन - सम्यग्दर्शन, बोधवृत्तम् - ज्ञान-चारित्र रूप, रत्नत्रयं पावनम् - पवित्र रत्नत्रय को, मुक्तिश्री - मुक्तिरूपी लक्ष्मी के, नगराधिपति - नगर के अधिपति, जिनपति - जिनेन्द्र देव ने, अपवर्गप्रदः - मोक्ष को देने वाला, धर्मः उक्तः - धर्म कहा है, सूक्तिसुधा - जिनागम, अखिलं चैत्यम् - समस्त जिन प्रतिमा और, श्रयालयः चैत्यालयः - लक्ष्मी का आकारभूत जिनमंदिर, धर्मः त्रिविधम् - धर्म तीन प्रकार का, प्रोक्तम् - कहा है, च अमी - और ये, चतुर्विधम् - चार प्रकार का धर्म, नो मंगलम् - हमारा मंगल, कुर्वन्तु - करे।

भावार्थ : विशुद्ध निर्मल सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र - यह पवित्र

रत्यत्रय है। अनन्त चतुष्टय रूप अन्तरंग लक्ष्मी से सम्पन्न शिवपुर के अधिपति जिनेन्द्र देव ने इसे अर्थात् विशुद्ध रत्नत्रय का निर्वाण प्राप्त कराने वाला धर्म कहा है। यह निर्मल रत्नत्रय धर्म एवं जिनागम, जिन चैत्य एवं जिनालय - ये चार प्रकार के धर्म हम सभी के पापों का क्षय करके हमें सुखी करें अर्थात् हमारा मंगल करें।

त्रेसठ शलाका पुरुष हमारा मंगल करें

नाभेयादि जिनाधिपास्त्रिभुवनख्याताश्चतुर्विंशतिः,
श्रीमन्तो भरतेश्वरप्रभृतयो ये चक्रिणो द्वादश।
ये विष्णुप्रतिविष्णु लाङ्गलधराः सप्तोत्तरा विंशतिः,
त्रैकाल्ये प्रथितास्त्रिषष्टिपुरुषाः कुर्वन्तु ते मंगलम् ॥4॥

अन्वयार्थ : त्रिभुवनख्याताः - तीनों लोकों में विख्यात, नाभेयादि - ऋषभदेव आदि, जिनाधिपाः - जिनेन्द्र देव, चतुर्विंशति - चौबीस तीर्थकर, श्रीमन्तः - लक्ष्मीमान, यः - जो, भरतेश्वरप्रभृतयः - भरतेश्वर आदि, द्वादश चक्रिणः - बारह चक्रवर्ती, यः विष्णु - जो नारायण, प्रतिविष्णु - प्रतिनारायण, लाङ्गलधराः - बलभद्र, सप्तोत्तरा विंशतिः - सात अधिक बीस अर्थात् सत्ताइस, त्रैकाल्ये - तीनों कालों में, प्रथिताः - विख्यात (मान्य), त्रिषष्टिपुरुषाः - श्रेष्ठ शलाका पुरुष, नो मंगलम् - हमारा मंगल, कुर्वन्तु - करें।

भावार्थ : जो तीनों लोकों में मान्य हैं - ऐसे नाभिनन्दन अर्थात् ऋषभदेव आदि चौबीस तीर्थकर भगवन्त अन्तरंग लक्ष्मी से सम्पन्न हैं। बाह्य एवं सम्यग्दर्शन रूपी अन्तरंग लक्ष्मी से सम्पन्न भरतेश आदि बारह चक्रवर्ती, नव नारायण, नव प्रतिनारायण और नव बलभद्र - ये त्रेसठ शलाका पुरुष हम सभी का मंगल करें।

जगत्पूज्य गणधर देव हमारा मंगल करें

ये सर्वौषधऋद्धयः सुतपसो वृद्धिगता पंच ये,
ये चाष्टांगमहानिमित्तकुशला येऽष्टाविधाशचारणाः।
पञ्चज्ञानधरास्त्रयोऽपि बलिनो ये बुद्धि-ऋद्धीश्वराः,
सप्तैते सकलार्चिता गणभृतः कुर्वन्तु ते मंगलम् ॥5॥

अन्वयार्थ : यः सुतपसः – जो अच्छे तप से, वृद्धिंगताः – वृद्धि को प्राप्त, पञ्च – पाँच, सर्वोषधि-ऋद्धयः – सर्वोषधि ऋद्धियों के स्वामी, च – और, यः अष्टांग – जो अष्टांग, महानिमित्त-कुशला – महानिमित्तों में कुशल, च अष्टौ – और आठ, वियच्चारिणः – चारण ऋद्धियों के धारक, पञ्च ज्ञानधराः – पाँच प्रकार के ज्ञानधारी, त्रयः अपि – तीन प्रकार के, बलिनः – बल से युक्त, यः बुद्धि ऋद्धीश्वराः – जो बुद्धि ऋद्धीश्वर हैं, ऐते सप्त – ये सात, सकलार्चिता मुनिवराः – सभी के द्वारा पूजित श्रेष्ठ मुनिजन, नो – हमारा, मंगलम् – मंगल कुर्वन्तु करें।

भावार्थ : जो उत्तम तप से प्राप्त हुई पाँच सर्वोषधि आदि ऋद्धियों के स्वामी हैं, अंग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, हिन्न, भौम, स्वप्न और अंतरिक्ष रूप अष्टांग महानिमित्तों में कुशल हैं, आठ प्रकार की चारण ऋद्धियों के स्वामी हैं, तीन प्रकार के बल से युक्त हैं और बुद्धि आदि सात ऋद्धियों के अधिपति हैं; वे जगत्पूज्य गणधर देव हम सभी का मंगल करें।

निर्वाण भूमियाँ हमारा मंगल करें

कैलाशे वृषभस्य निर्वृतिमही वीरस्य पावापुरे,

चम्पायां वसुपूज्य सज्जिनपतेः सम्मेदशैलेऽर्हताम् ।

शेषाणामपि चोर्जयन्तशिखरे नेमीश्वरस्यार्हतो,

निर्वाणावनयः प्रसिद्धविभवाः कुर्वन्तु नो मंगलम् ॥6॥

अन्वयार्थ : वृषभस्य – ऋषभदेव की, निर्वृतिमही – निर्वाण भूमि, कैलासे – कैलास पर्वत पर, वीरस्य – महावीर स्वामी की, पावापुरे – पावापुर में है, वसुपूज्य – वासुपूज्य भगवान की, चम्पायाम् – चम्पापुर में है, अर्हतः – अर्हन्त, नेमीश्वरस्य – नेमीनाथ स्वामी की, ऊर्जयन्तशिखरे – ऊर्जयन्त पर्वत पर, च – और, शेषाणामपि अर्हताम् – शेष पूज्य तीर्थकरों पर, सम्मेदशैले – सम्मेद शिखर पर, प्रसिद्धविभवाः – प्रसिद्ध है वैभव जिनका, निर्वाणावनयः – वे निर्वाण भूमियाँ, नो – हमारा, मंगलम् – मंगल, कुर्वन्तु – करें।

भावार्थ : इस युग के प्रथम तीर्थेश श्री आदिनाथ स्वामी ने कैलास पर्वत से निर्वाण प्राप्त किया, अन्तिम तीर्थेश श्री वर्द्धमान स्वामी ने पावापुर के पद्म-सरोवर से निर्वाण प्राप्त किया, प्रथम बालयति तीर्थकर श्री वासुपूज्य स्वामी ने चम्पापुर के मंदार पर्वत से निर्वाण को

प्राप्त किया, नेमिनाथ स्वामी ने ऊर्जयन्त शिखर से शिवपुर की ओर गमन किया और शेष बीस तीर्थकरों ने शाश्वत भूमि श्री सम्मेद शिखर से मुक्ति प्राप्त की। वैभव सम्पन्न ये समस्त निर्वाण भूमियाँ हम सभी का कल्याण करें, हमारा मंगल करें।

जिन चैत्यालय हमारा मंगल करें

ज्योतिर्व्यन्तर-भावनामरगृहे मेरौ कुलाद्रौ स्थिताः,
जम्बूशाल्मलिचैत्यशाखिषु तथा वक्षार-रौप्याद्रिषु ।
इष्वाकारगिरौ च कुण्डलनगे द्वीपे च नन्दीश्वरे,
शैले ये मनुजोत्तरे जिनगृहाः कुर्वन्तु नो मंगलम् ॥17 ॥

अन्वयार्थ : ज्योतिः - ज्योतिषी देव, व्यन्तर - व्यन्तर, भावनामर - भवनवासी और वैमानिकों के, गृहे - निवास स्थान में, मेरौ - मेरुओं में, कुलाद्रौ स्थिताः - कुलाचलों में स्थित, जम्बू - जम्बू वृक्षों में, शाल्मलि - शाल्मलि वृक्षों में, चैत्यशाखिषु - चैत्य वृक्षों की शाखाओं में, तथा वक्षार - तथा वक्षार गिरि, रुप्याद्रिषु - विजयार्द्ध गिरि, इष्वाकार - इष्वाकार पर्वत, कुण्डलनगे - कुण्डल पर्वत, च नन्दीश्वरे द्वीपे - और नन्दीश्वर द्वीप में, यः मनुजोत्तरे - जो मानुषोत्तर, शैले - पर्वत पर, जिनगृहाः - जिन चैत्यालय हैं वे, नो - हमारा मंगलम् - मंगल, कुर्वन्तु - करें।

भावार्थ : ज्योतिषी, व्यन्तर, भवनवासी और वैमानिक देवों के विमानों में, भवनों में, मेरुओं, कुलाचलों, जम्बूवृक्षों और शाल्मलि वृक्षों, वक्षारों, विजयार्द्ध पर्वतों, इष्वाकार पर्वतों, कुण्डल पर्वत, नन्दीश्वर द्वीप और मानुषोत्तर पर्वत तथा रुचकरवर पर्वत के सभी अकृत्रिम जिन चैत्यालय हमारे पापों का क्षय कर हमारा मंगल करें।

पंच कल्याणक महोत्सव हमारा मंगल करें

यो गर्भावतरोत्सवो भगवतां जन्माभिषेकोत्सवो,
यो जातः परिनिष्क्रमेण विभवो यः केवलज्ञानभाक् ।
यः कैवल्यपुरप्रवेशमहिमा सम्भावितः स्वर्गिभिः,
कल्याणानि च तानि पञ्च सततं कुर्वन्तु नो मंगलम् ॥18 ॥

अन्वयार्थ : यः भगवताम् - जो तीर्थकरों के, गर्भावतरोत्सवः - गर्भ कल्याणक

के उत्सव, जन्माभिषेकोत्सवः – जन्म कल्याणक के उत्सव, परिनिष्क्रमेण – तप कल्याणक के उत्सव, केवलज्ञानभाक् – केवलज्ञान कल्याणक, विभवः – वैभव, (महोत्सव), च – और, यः कैवल्यपुर – जो कैवल्यपुर, प्रवेशमहिमा – प्रवेश की महिमा अर्थात् निर्वाण कल्याणक, स्वर्गिभिः – देवों द्वारा, सम्भावितः जातः – सम्पन्न किये गये, तानि पञ्च – वे पाँचों कल्याणानि – कल्याणक, नो सततं – हमारा हमेशा, मंगलम् – मंगल, कुर्वन्तु – करें।

भावार्थ : सौधर्म आदि देवों ने समस्त तीर्थकरों के जो गर्भ कल्याणक महोत्सव, जन्म कल्याणक महोत्सव, दीक्षा कल्याणक महोत्सव, केवलज्ञान कल्याणक महोत्सव और निर्वाण कल्याणक महोत्सव किए, वे पंच कल्याणक महोत्सव हम सभी का मंगल करें।

मंगलाष्टक स्तोत्र का फल

इत्थं श्री जिनमंगलाष्टकमिदं सौभाग्यसंपत्प्रदम्,
कल्याणेषु महोत्सवेषु सुधियस्तीर्थङ्कराणामुषः ।
ये शृण्वन्ति पठन्ति तैश्च सुजनैर्धर्मार्थकामान्विता,
लक्ष्मीराश्रयते व्ययायरहिता निर्वाणलक्ष्मीरपि ॥१९॥

अन्वयार्थ : इत्थम् – इस प्रकार सौभाग्य, सम्पत्प्रदं – सौभाग्यरूप सम्पत्ति के प्रदाता, श्री जिनमंगलाष्टकम् – श्री जिन मंगलाष्टक को, सुधियः तीर्थकराणाम् – सुधी तीर्थकरों के, कल्याणेषु महोत्सवेषु – कल्याणक महोत्सवों में और, उषः – प्रातःकाल, यः – जो, शृण्वन्ति च पठन्ति – सुनते और पढ़ते हैं, तैः सुजनैः – उन सज्जनों के द्वारा, धर्मार्थकामान्विता – धर्म, अर्थ और काम से सहित, लक्ष्मीः आश्रयते – लक्ष्मी प्राप्त की जाती है और, व्ययायरहिता – विनाश रहित अर्थात् अविनश्वर, निर्वाणलक्ष्मीः – मोक्ष-लक्ष्मी – अपि आश्रयते भी प्राप्त करते हैं।

भावार्थ : सौभाग्य रूपी वैभव को प्रदान करानेवाले श्री जिनेन्द्र भगवान के इस मंगलाष्टक को जो विद्वान सज्जन तीर्थकर भगवन्तों के पंच कल्याणक महोत्सवों के अवसर पर तथा प्रातःकाल के समय भाव पूर्वक सुनते और पढ़ते हैं; वे सज्जन धर्म, अर्थ और काम से युक्त लक्ष्मी को प्राप्त कर अंत में मोक्ष लक्ष्मी रूप अविनश्वर वैभव को प्राप्त करते हैं।

॥ इति श्री मंगलाष्टकस्तोत्रम् ॥

5. श्री भद्रबाहुविरचितम् उवसगहरं

श्री भद्रबाहु स्वामिप्रसादात् एषः योगः फलतु

उवसगहरं पासं, पासं वंदामि कम्मघणमुक्कं।
विसहर-विसणिण्णासनं, मंगल कल्लाण-आवासं॥1॥

अर्थ : मैं घातिया कर्मों से विमुक्त उपसर्ग विजयी भगवान श्री पार्श्वनाथ स्वामी की वन्दना करता हूँ। भगवान् विषधर के विष को निर्विष करने वाले है तथा मंगल एवं कल्याण के निवास हैं।

विसहर-फुलिंगमंतं, कंठे धारेई जो सया मणुओ।
तस्य गह-रोग-मारी, दुट्ठजरा जंति उवसामं॥2॥

अर्थ : विसहरण शक्ति से स्फुलिंग के समान दीप्तिमान् इस स्तोत्र को जो मनुष्य नित्य कण्ठ में धारण करता है (कण्ठस्थ रखता है, कण्ठ द्वारा उच्चारण करता है) उसके ग्रहपीड़ा, रोग, महामारी तथा वार्धभ्य से उत्पन्न दुष्ट व्याधियाँ शान्त हो जाती हैं।

चिट्ठउ दूरे मंतो, तुच्छ मणामोवि बहुफलो होई।
णर-तिरिण्णसुवि जीवा, पावंति ण दुक्ख-दोगच्चं॥3॥

अर्थ : हे भगवान्! मंत्रोपचार तो दूर की बात है, उसे रहने दें तो भी आपको एक श्रद्धाभक्ति से किया गया प्रणाम भी बहु फलदायी होता है। नर और तिर्यच गति में उत्पन्न जीव आपकी भक्ति से दुःख तथा दुर्गति नहीं पाते।

तुह सम्मत्ते लद्धे, चिंतामणि कप्पपायवब्भहिए।
पावंति अविग्घेणं, जीवा अयरामरं ठाणं॥4॥

अर्थ : चिन्तामणि और कल्पवृक्ष के समान आपके सम्यक्त्व को प्राप्त कर जीव निर्विघ्न अजर-अमर स्थान प्राप्त कर लेते हैं।

इअ संथुओ महायस! भक्तिभर निब्भरेण हिअएण।
ता देव दिज्ज बोहिं, भवे भवे पास जिणचंद॥5॥

अर्थ : हे महान् यशस्विन्! भक्ति की अतिशयता से भरे हृदय से मैं आपकी स्तुति करता हूँ। हे पार्श्व जिनचन्द्र! मुझे बोधिलाभ हो - ऐसी प्रार्थना है।

ॐ अमरतरु-कामधेणु-चिंतामणि कामकुंभभाइया।
सिरि-पासनाह-सेवाग्गहाण सव्वे वि दासत्तं॥6॥

अर्थ : श्री पार्श्वनाथ भगवान् की सेवा का आश्रय कर लेने पर ओम्, कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिन्तामणि रत्न, इच्छापूर्ति करने वाला कलश आदि सभी सुखप्रदाता कारण उस व्यक्ति के दासत्व को प्राप्त हो जाते हैं।

उवसग्ग हरं स्तोत्रं, कादूणं जेण संघकल्लाणं।
करुणायरेण विहिदं, स भद्रवाहु गुरु जयदु॥7॥

अर्थ : जिन करुणाकर आचार्य भद्रबाहु के द्वारा संघ के कल्याणकारक यह उपसर्ग-हर स्तोत्र निर्मित किया गया है, वे भद्रबाहु सदा जयवन्त हों।

॥ इदि उवसग्गहरं ॥

6. देव-दर्शन स्तुति (दर्शन-पाठ)

जिनदर्शन का प्रभाव

दर्शनं देवदेवस्य दर्शनं पापनाशनम् ।

दर्शनं स्वर्गसोपानं दर्शनं मोक्षसाधनम् ॥1॥

अन्वयार्थ : देवदेवस्य दर्शनं - देवाधिदेव का दर्शन, पापनाशनम् - पापों का नाशक है, दर्शनं - दर्शन, स्वर्गसोपानं - स्वर्ग की सीढ़ी है, और दर्शनं - दर्शन ही, मोक्षसाधनम् - मोक्ष का साधन है।

भावार्थ : जो शत इन्द्रों द्वारा हर क्षण वन्दनीय हैं - ऐसे देवाधिदेव का दर्शन पापों का नाश करने वाला है। स्वर्ग का वैभव अर्थात् अभ्युदय सुख प्राप्त करने वाली सीढ़ी भी देवाधिदेव का पवित्र दर्शन है और निःश्रेयस् सुख (मोक्ष) प्राप्ति का साधन भी देवाधिदेव का दर्शन ही है।

शत इन्द्र : भवनवासी के 40 इन्द्र, व्यन्तरों के 32 इन्द्र, कल्पवासी के 24 इन्द्र, 1 चन्द्रमा, 1 सूर्य, मनुष्यों का इन्द्र चक्रवर्ती और तिर्यचों का इन्द्र सिंह - ये 100 इन्द्र देवाधिदेव के पावन चरणों में सतत नतमस्तक हैं। इनके चरणों की पूजा करते हैं।

जिनदर्शन से पाप कर्म शीघ्र नष्ट

दर्शनेन जिनेन्द्राणां साधूनां वन्दनेन च ।

न तिष्ठति चिरं पापं छिद्रहस्ते यथोदकम् ॥2॥

अन्वयार्थ : जिनेन्द्राणां - जिनेन्द्र देव के, दर्शनेन दर्शन से, च - और, साधूनां - साधुओं की, वन्दनेन - वन्दना से, पापं - पाप, चिरं - अधिक समय तक, न तिष्ठति - नहीं ठहरते, यथा - जिस प्रकार, छिद्रहस्ते - छिद्र सहित हाथों में, उदकम् - जल (ज्यादा देर नहीं ठहरता)।

भावार्थ : जिस प्रकार छिद्र सहित अंजुली में जल अधिक देर तक नहीं ठहरता; उसी प्रकार जिनेन्द्र देव के दर्शन और निर्ग्रन्थ साधुओं की वन्दना करने से पाप कर्म लम्बे समय तक नहीं ठहरते अर्थात् वे पाप कर्म गल कर शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।

जिनदर्शन से भव-भव के पाप नष्ट

वीतरागमुखं दृष्ट्वा पद्मराग-समप्रभम् ।

जन्म-जन्मकृतं पापं दर्शनेन विनश्यति ॥3 ॥

अन्वयार्थ : पद्मराग - पद्मराग मणि के, समप्रभं - समान आभा वाले, वीतरागमुखं - वीतराग प्रभु के मुख को, दृष्ट्वा - देखकर, जन्मजन्मकृतं - जन्म-जन्मान्तर में किये, पापं - पाप, दर्शनेन - दर्शन से, विनश्यति - नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ : पद्मरागमणि की सुन्दर आभा से युक्त वीतराग प्रभु के मुख-मण्डल को देखने मात्र से भव-भव के किये हुए पाप क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं।

जिनदेव जिनसूर्य हैं

दर्शनं जिनसूर्यस्य संसारध्वान्तनाशनम् ।

बोधनं चित्तपद्मस्य समस्तार्थप्रकाशनम् ॥4 ॥

अन्वयार्थ : जिनसूर्यस्य - जिनेन्द्र रूपी सूर्य का, दर्शनं - दर्शन संसारध्वान्त - संसाररूपी अन्धकार का, नाशनं - नाश करने वाला, च - और, चित्तपद्मस्य - आत्मा और मन रूपी कमल को विकसित करने वाला एवं, समस्तार्थप्रकाशनं - समस्त पदार्थों का प्रकाशक है।

भावार्थ : जिनेन्द्र भगवान रूपी सूर्य का पावन दर्शन समस्त पापरूपी अंधकार को नष्ट करने वाला है, अपने केवलज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों का प्रकाशन करनेवाला है एवं समस्त भव्यात्माओं की आत्मा और चित्त अर्थात् मन को प्रफुल्लित करने वाला है।

जिनदेव जिनचन्द्र हैं

दर्शनं जिन-चन्द्रस्य सद्धर्मामृत-वर्षणम् ।

जन्म-दाहविनाशाय वर्धनं सुख-वारिधेः ॥5 ॥

अन्वयार्थ : जिनचन्द्रस्य - जिनेन्द्र रूपी चन्द्रमा का, दर्शनम् - दर्शन, जन्मदाह - जन्मरूपी ताप का, विनाशाय - नाश करने के लिए, सुखवारिधेः - सुखरूप समुद्र की, वर्धनम् - वृद्धि के लिए, सद्धर्मामृत - सद्धर्मरूपी अमृत की, वर्षणम् - वर्षा करता है।

भावार्थ : जिनेन्द्र रूपी चन्द्रमा का दर्शन जन्मरूपी दाह (तपन) का नाश करने के लिए एवं सुखरूपी समुद्र की वृद्धि के लिए अमृत की वर्षा करता है।

सर्वज्ञदेव को नमस्कार हो

जीवादितत्त्वप्रतिपादकाय सम्यक्त्वमुख्याष्टगुणार्णवाय ।

प्रशान्तरूपाय दिगम्बराय देवाधिदेवाय नमो जिनाय ॥6॥

अन्वयार्थ : जीवादितत्त्वप्रतिपादकाय - जीवादि तत्त्वों के प्रतिपादक, सम्यक्त्वमुख्याष्ट - सम्यक्त्वादि आठ मुख्य, गुणार्णवाय - गुणों के समुद्र, प्रशान्तरूपाय - प्रशान्तरूप, दिगम्बराय - दिगम्बर, देवाधिदेवाय - सर्वज्ञ देव, अर्हन्त प्रभु, जिनाय - जिनेन्द्र देव के लिए, नमः - नमस्कार हो।

भावार्थ : जो जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष - इन सात तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करने वाले हैं, सम्यक्त्व आदि आठ गुणों के समुद्र हैं - ऐसे प्रशान्तरूप दिगम्बर अर्हन्त प्रभु के लिए, सर्वज्ञ भगवन्त के लिए नमस्कार हो।

आत्मतत्त्व-प्रकाशी जिनदेव

चिदानन्दैक-रूपाय जिनाय परमात्मने ।

परमात्म-प्रकाशाय नित्यं सिद्धात्मने नमः ॥7॥

अन्वयार्थ : चिदानन्दैकरूपाय - आप आत्मानन्द स्वरूप हैं, जिनाय - कर्मों को जीतने वाले हैं, परमात्मने - उत्कृष्ट आत्मा हैं, परमात्म - परम आत्म तत्त्व के, प्रकाशाय - प्रकाशक, सिद्धात्मने - सिद्धस्वरूप हैं आपको, नित्यं - हमेशा, नमः- नमस्कार हो।

भावार्थ : हे भगवन्! आप अनन्त सुख के धाम अर्थात् आप परम आत्मानन्द स्वरूप हैं, अष्ट कर्मों को जीतने वाले कर्म विजेता जिन हैं, परम आत्मतत्त्व के प्रकाशक हैं एवं आप परम सिद्धस्वरूप हैं; अतः आपको हमारा सतत नमस्कार हो।

आप ही शरण हो

अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम ।

तस्मात्कारुण्यभावेन रक्ष रक्ष जिनेश्वर ॥8॥

अन्वयार्थ : अन्यथा – आपके सिवा अन्य कोई, शरणं – शरण नहीं है, त्वम् – आप, एव – ही, मम – मेरे, शरणं – शरण हैं, तस्मात् – इसलिए, जिनेश्वर – हे जिनेन्द्र भगवन्! कारुण्यभावेन – दया करके, मम रक्ष रक्ष – मेरी रक्षा करो, मेरी रक्षा करो।

भावार्थ : संसार में आपके अलावा अन्य कोई दूसरा मेरी शरण नहीं है, आप ही मेरे लिए शरण हैं; इसलिए हे भगवन्! करुणभाव से आर्द्र होकर आप मेरी रक्षा करिये-रक्षा करिये।

आप ही एक मेरे रक्षक हैं

नहि त्राता नहि त्राता नहि त्राता जगत्त्रये ।

वीतरागात्परो देवो न भूतो न भविष्यति ॥9 ॥

अन्वयार्थ : जगत्त्रये – तीनों लोकों में, वीतरागात्परः देवः – समदर्शी वीतराग अर्हन्त भगवान के सिवा और कोई, न हि त्राता – जीवों की रक्षा करने वाला नहीं है, न हि त्राता – रक्षा करने वाला नहीं है, न हि त्राता – रक्षा करने वाला नहीं हैं, न भूतो – न भूतकाल में हुआ, न भविष्यति – और न आगे होगा।

भावार्थ : तीनों लोकों में वीतराग भगवान के सिवा अन्य कोई भी जीवों की रक्षा करने वाला नहीं। रक्षा करने वाला नहीं है। आपके समान रक्षक भविष्य में न कोई दूसरा होगा और न ही भूतकाल में कोई हुआ है।

जिनभक्ति में सतत लीन रहूँ

जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्दिने दिने ।

सदा मेऽस्तु सदा मेऽस्तु सदा मेऽस्तु भवे भवे ॥10 ॥

अन्वयार्थ : दिने दिने – प्रतिदिन, भवे भवे – भव भव में, मे – मुझमें, जिनेः भक्तिः – जिनेन्द्र भगवान की भक्ति, सदा अस्तु – सदा होवे, मे – मुझमें, जिनेः भक्तिः – जिनेन्द्र भगवान की भक्ति, सदा अस्तु – सदा होवे।

भावार्थ : हे भगवन्! भव-भव में अर्थात् प्रत्येक जन्म में मुझमें जिनभक्ति सदा हो, मुझमें जिनभक्ति सदा हो, मुझमें जिनभक्ति सदा हो।

मुझे जिनधर्म चाहिए

जिनधर्मविनिर्मुक्तो मा भवेच्चक्रवर्त्यपि ।

स्याच्चेटोऽपि दरिद्रोऽपि जिनधर्मानुवासितः ॥11 ॥

अन्वयार्थ : जिनधर्म – जिनधर्म से, विनिर्मुक्तः – रहित, चक्रवर्ती अपि – चक्रवर्ती भी, मा भवेत् – नहीं हो, स्याच्चेटः अपि – भले ही दुःखी हो, दरिद्रः अपि – दरिद्री भी हो, लेकिन जिनधर्म-अनुवासितः – जिनधर्म सहित मेरा जीवन हो।

रोगत्रय आपके दर्शन से नष्ट

जन्म-जन्मकृतं पापं जन्म-कोटिमुपार्जितम् ।

जन्म-मृत्यु-जरा-रोगं हन्यते जिन-दर्शनात् ॥12 ॥

अन्वयार्थ : जिनदर्शनात् – जिनेन्द्रदेव के दर्शन से, जन्मजन्मकृतम् – जन्म-जन्मान्तर में किए गये, कोटिम् उपार्जितम् – करोड़ों उपार्जित, पापम् – पाप और, जन्म-मृत्युजरारोगः – जन्म, मरण और बुढ़ापा आदि रोग, हन्यते – नष्ट हो जाते हैं।

जिनदर्शन से नेत्र सफल हुए

अद्याभवत्सफलता नयनद्वयस्य, देव! त्वदीय चरणाम्बुजवीक्षणेन ।

अद्य त्रिलोकतिलक! प्रतिभासते मे, संसारवारिधिरयं चुलुकप्रमाणम् ॥13 ॥

अन्वयार्थ : देव! – हे जिनदेव, त्वदीय – आपके चरणाम्बुज चरणकमल, वीक्षणेन – देखने से, अद्य मे – आज मेरे, नयनद्वयस्य – दोनों नेत्र, सफलता अभवत् – सफल हुए हैं, त्रिलोकतिलक! – हे तीन लोक के तिलक (स्वामी), अद्य मे – आज मुझे, अयं – यह संसार, वारिधिः – संसार-समुद्र, चुलुकप्रमाणम् – चुल्लू प्रमाण, प्रतिभासते – लगता है।

भावार्थ : हे जिनेन्द्र देव! आपके चरण-कमल को देखने से आज मेरे दोनों नेत्र सफल हो गये हैं। हे तीन लोक के चूड़ामणि रत्न! आज मुझे यह संसार-सागर बहुत थोड़ा-सा प्रतीत हो रहा है।

॥ इति देव-दर्शन स्तुति ॥

7. श्री अद्याष्टकस्तोत्रम्

अद्य मे सफलं जन्म, नेत्रे च सफले मम।

त्वामद्राक्ष यतो देव, हेतुमादाय संपदः॥1॥

अन्वयार्थ : अद्य – आज, मे – मेरा, जन्म – जन्म, सफलम् – सफल (हो गया है), च – और, मम – मेरे, नेत्रे – दोनों नयन, सफले – सफल (हो गये), यतः – क्योंकि, देव – हे देव!, अक्षय-सम्पदः – अविनाशी सम्पत्तियों के, हेतुम् – कारणरूप, त्वाम् – आपके, अद्राक्षम् – दर्शन कर लिये हैं।

भावार्थ : हे देव! हे भगवन्! आज मैंने अक्षय सम्पत्ति के हेतुभूत आपके दर्शन किए। इससे मेरा जन्म और मेरे दोनों नेत्र आज सफल हो गये।

अद्य संसार-गम्भीर, पारावारः सुदुस्तरः।

सुतरोऽयं क्षणेनैव, जिनेन्द्र! तव दर्शनात्॥2॥

अन्वयार्थ : जिनेन्द्र! – हे जिनेन्द्र देव!, तव – आपके, दर्शनात् – दर्शन करने से, अद्य – आज, अयं – यह, संसारगम्भीर – गम्भीर संसार रूपी, सुदुस्तरः – अत्यन्त दुस्तर (जिसे पार करना अत्यन्त कठिन है), पारावारः – समुद्र, क्षणेन – क्षणभर में, एव – ही, सुतरः – सरलतापूर्वक तैरने योग्य हो गया है।

भावार्थ : हे जिनेन्द्र देव! आज आपके दर्शन करने से तैरने के लिए अत्यन्त कठिन, वह गम्भीर समुद्र मेरे लिए क्षणमात्र में सुतर गया हो अर्थात् पार हो गया।

अद्य मे क्षालितं गात्रं, नेत्रे च विमले कृते।

स्नातोऽहं धर्म-तीर्थेषु, जिनेन्द्र! तव दर्शनात्॥3॥

अन्वयार्थ : जिनेन्द्र! – हे जिनेन्द्र देव!, तव – आपके, दर्शनात् – दर्शन करने से, अद्य – आज, मे – मेरा, गात्रम् – शरीर, क्षालितम् – धुल गया है, नेत्रे – दोनों नेत्र, विमले – निर्मल, कृते – हो गये हैं, च – और, अहम् – मैंने, धर्मतीर्थेषु – धर्मतीर्थों में, स्नातः – स्नान कर लिया है।

भावार्थ : हे जिनेन्द्र प्रभु! आज आपका दर्शन करने से मेरा शरीर धुल गया है (पवित्र हो गया है), नेत्र निर्मल हो गये हैं और मैंने तीर्थों में स्नान कर लिया है।

अद्य मे सफलं जन्म, प्रशस्तं सर्वमंगलम्।

संसाराऽर्णव-तीर्णोऽहं, जिनेन्द्र! तव दर्शनात्॥4॥

अन्वयार्थ : जिनेन्द्र! - हे जिनेन्द्र देव!, तव - आपके, दर्शनात् - दर्शन करने से, अद्य - आज, मे - मेरा, जन्म - जन्म, प्रशस्तं - आलोकित, सर्वमंगलम् - पूर्णतः कल्याण युक्त (हो गया है और आज), अहम् - मैं, संसार-अर्णवः - संसार रूप सागर को, तीर्णः - तैरकर पार कर चुका हूँ।

भावार्थ : हे जिनेन्द्र! आज आपके दर्शन करके मेरा जन्म सफल हो गया। मुझे अलौकिक सर्व मंगलों की प्राप्ति हो गयी और संसारी रूपी समुद्र से तैरकर मैं पार हो गया।

अद्य कर्माष्टक-ज्वालं, विद्युतं सकषायकम्।

दुर्गतेर्विनिवृतोऽहं, जिनेन्द्र! तव दर्शनात्॥5॥

अन्वयार्थ : जिनेन्द्र! - जिनेन्द्र देव!, अद्य - आज, तव - आपके, दर्शनात् - दर्शन करने से, सकषायकम् - कषाय सहित, कर्माष्टकज्वालम् - आठ कर्मों को जलाने को, विद्युतम् - नाश कर दिया है, अहम् - और मैं, दुर्गतेः - दुर्गति से, विनिवृत्तः - दूर हो गया हूँ

भावार्थ : हे जिनेन्द्र देव! आज आपका दर्शन करने से मैंने कषाय के साथ आठ कर्मों को जलाकर दूर कर दिया है और मैं दुर्गति दूर हो गया हूँ, यानि मैं दुर्गति से सुरक्षित हो गया हूँ।

अद्य सौम्या ग्रहाः सर्वे शुभाश्चैकादशस्थिताः।

नष्टानि विघ्नजालानि, जिनेन्द्र! तव दर्शनात्॥6॥

अन्वयार्थ : जिनेन्द्र! - हे जिनेन्द्र भगवान्, अद्य - आज, तव - आपके, दर्शनात् - दर्शन करने से, एकादशस्थिताः - ग्यारह स्थानों में स्थित, सर्वे - सभी, ग्रहाः - ग्रह, सौम्या - शान्त, च - और, शुभाः - शुभ हो गये हैं, विघ्न - विपत्तियों के,

जालानि - समूह, नष्टानि - नष्ट हो गये हैं।

भावार्थ : हे जिनेन्द्र भगवान्! आज आपके दर्शन करने से एकादश स्थान में स्थित सब ग्रह शांत और शुभ हो गये हैं एवं सम्पूर्ण विघ्नों का समूह नष्ट हो गया है।

अद्य नष्टो महाबन्धः, कर्मणः दुःखदायकः।

सुखसङ्गं समापन्नो, जिनेन्द्र! तव दर्शनात्॥7॥

अन्वयार्थ : जिनेन्द्र! - हे जिनेन्द्र प्रभु, अद्य - आज, तव - आपके, दर्शनात् - दर्शन करने से, दुःखदायकः - दुःख देने वाले, कर्मणां - कर्मों का, महाबन्ध - महा बन्धन, नष्टः - नष्ट हो गया है और मैं, सुखसंगः - सुखदायी संगति से, सम्पन्नः - सहित हो गया हूँ।

भावार्थ : हे जिनेन्द्र भगवान्! आज आपके दर्शन से दुःख देने वाले अष्ट कर्मरूप महा बन्धन नष्ट हो गये हैं और मैं सुखरूपी संगति में हो गया हूँ।

अद्य कर्माष्टकं नष्टं, दुःखोत्पादन-कारकम्।

सुखाम्बोधि-निमग्नोऽहं, जिनेन्द्र! तव दर्शनात्॥8॥

अन्वयार्थ : जिनेन्द्र! - हे जिनेन्द्र भगवान्, अद्य - आज, तव - आपके, दर्शनात् - दर्शन करने से, दुःखोत्पादन - दुःख उत्पन्न, कारकम् - करने वाले, कर्माष्टकम् - आठ कर्मों का समूह, नष्टम् - नष्ट हो गया है और, अहम् - मैं, सुखाम्बोधि - सुखरूपी समुद्र में, निमग्नोऽहं - निमग्न हो गया हूँ।

भावार्थ : हे जिनेन्द्र देव! आज आपके दर्शन से मेरे आठ कर्मों का समूह नष्ट हो रहा है और मैं सुख रूपी सागर में निमग्न हो रहा हूँ।

अद्य मिथ्यान्धकारस्य, हन्ता ज्ञान-दिवाकरः।

उदितो मच्छरीरेऽस्मिन्, जिनेन्द्र! तव दर्शनात्॥9॥

अन्वयार्थ : जिनेन्द्र! - हे जिनेन्द्र भगवान्, अद्य - आज, तव - आपके, दर्शनात् - दर्शन करने से, मम - मेरे, अस्मिन् - इस, शरीरे - शरीर में, मिथ्यान्धकारस्यहन्ता - मिथ्यात्वरूपी अन्धकार का नाश करने वाला, ज्ञानदिवाकर -

ज्ञान-सूर्य, उदितः – उदित हो गया है।

भावार्थ : हे जिनेन्द्र प्रभु! आज आपका दर्शन करने से मेरे आत्मा रूपी शरीर में मिथ्यात्व रूपी अन्धकार का नाश करने वाला ज्ञान-सूर्य उदित हो गया है।

अद्याहं सुकृतीभूतो, निर्धूताशेषकल्मषः।

भुवनत्रय-पूज्योऽहं, जिनेन्द्र! तव दर्शनात्॥10॥

अन्वयार्थ : जिनेन्द्र! – हे जिनेन्द्र भगवान्, अद्य – आज, तव – आपके, दर्शनात् – दर्शन करने से, अशेष – सम्पूर्ण, कल्मषः – पापों के, निर्धूत – धुल जाने के कारण, अहम् – मैं, सुकृतीभूतो – सुकृतीभूत, भुवनत्रय – तीनों लोकों में, पूज्यः – पूज्य हो गया हूँ।

भावार्थ : हे जिनेन्द्र भगवान्! आज आपका दर्शन करने से समस्त पाप कर्मों के कल्मष को धोकर मैं सुकृतीभूत और तीनों लोकों में पूज्य हो गया हूँ।

अद्याष्टकं पठेद्यस्तु, गुणाऽनन्दित – मानसः।

तस्य सर्वार्थसंसिद्धिः, जिनेन्द्र! तव दर्शनात्॥11॥

अन्वयार्थ : जिनेन्द्र! – हे जिनेन्द्र प्रभु, तव – आपके, दर्शनात् – दर्शनों के पश्चात्, गुणादनन्दित – आपके गुणों से आनन्द युक्त, मानसः – मन वाला होकर, यः – जो भव्य, अद्याष्टकम् – अद्याष्टक स्तोत्र को, पठेत् – पढ़ता है, तस्य – उस भव्य जीव के, सर्वार्थ – सम्पूर्ण भावनायें, संसिद्धिः – सिद्ध होती हैं।

भावार्थ : हे जिनेन्द्र देव! आपका दर्शन करते समय जो आपके गुणों में आनन्दपूर्वक अपने मन को लगाकर इस अद्याष्टक स्तोत्र को पढ़ता है, उसे आपके दर्शन करने मात्र से सब अर्थों में सिद्धि अर्थात् उसे सर्वार्थसिद्धि होती है।

॥ इति श्री अद्याष्टकस्तोत्रम् ॥

8. श्री सुप्रभातस्तोत्रम्

मेरा सुप्रभात मंगलमय हो

यत्स्वर्गावतरोत्सवे यदभवज्जन्माभिषेकोत्सवे,
यद्दीक्षाग्रहणोत्सवे यदखिलज्ञानप्रकाशोत्सवे।
यन्निर्वाणगमोत्सवे जिनपतेः पूजाद्भुतं तद्भवैः,
संगीतस्तुतिमंगलैः प्रसरतां मे सुप्रभातोत्सवः॥ 1॥

अन्वयार्थ : जिनपतेः – जिनेन्द्र भगवान के, यत् स्वर्गावतरोत्सवे – जो स्वर्ग से गर्भ में आने के समय किये गये उत्सव में, यत् जन्माभिषेकोत्सवे – जो जन्माभिषेक के समय किये गये उत्सव में, यत् दीक्षाग्रहणोत्सवे – जो दीक्षा ग्रहण के समय किये गये उत्सव में, यत् अखिलज्ञानप्रकाशोत्सवे – जो केवलज्ञान प्रकट होने के समय किये गये उत्सव में, यत् निर्वाणगमोत्सवे – जो मोक्ष प्राप्ति के समय किये गये उत्सव में, पूजाद्भुतम् – आश्चर्यकारी पूजा (अभवत्) हुई थी, तद्भवैः मंगलैः – उसी प्रकार मंगलरूप गायन स्तुति से, मे सुप्रभातोत्सवः – मेरा सुप्रभात का उत्सव, प्रसरताम् फैले (प्राप्त हो)।

भावार्थ : हे जिनेन्द्र देव! जिस प्रकार आपके गर्भ कल्याणक, जन्म कल्याणक, दीक्षा कल्याणक, ज्ञान कल्याणक और निर्वाण कल्याणक के समय जो महान उत्सव हुए, चतुर्निकाय के देवों द्वारा आपकी आश्चर्यकारी पूजा हुई; उसी प्रकार मेरा सुप्रभात भी उत्सवपूर्वक मंगलमय होवे।

मेरा सुप्रभात आपके ध्यान में बीते

श्रीमन्नतामरकिरीटमणिप्रभाभि-

रालीढपादयुग! दुर्धरकर्मदूर।

श्रीनाभिनन्दन! जिनाजितशम्भवाख्य!

त्वद्ध्यानतोऽस्तु सततं मम सुप्रभातम्॥2॥

अन्वयार्थ : श्रीमत् - श्रीमान्, नतामर - नम्रीभूत हुए देवों के, किरीटमणि-
प्रभाभिः - मुकुट-मणियों की कान्ति से (यस्य) जिनके, आलीढपादयुग - दोनों चरण
स्पर्श किये गये तथा, दुर्धरकर्मदूर - जिन्होंने दुर्धर कर्मों को दूर किया-ऐसे, श्री
नाभिनन्दन - श्री नाभिराज के पुत्र आदिनाथ, जिनाजित - अजितनाथजी, सम्भवाख्य
- संभवनाथ जिन, त्वद् - आपके, ध्यानतः - ध्यान से, मम - मेरा, सुप्रभातम् -
सुप्रभात, सततम् - सदा, अस्तु - हो।

भावार्थ : अणिमा-महिमा आदि की विभूति से युक्त नम्रीभूत हुए देवों के
मुकुटों की मणियों की कान्ति से जिनके दोनों चरण स्पर्श किए गए हैं तथा जिन्होंने अत्यन्त
कठिनाई से दूर करने योग्य कर्मों को नष्ट किया है - ऐसे हे आदिनाथ, अजितनाथ एवं
संभवनाथ स्वामी! मेरे प्रातःकाल का समय आपके शुभ ध्यान में ही व्यतीत हो।

मेरा प्रातःकाल आपके ध्यान में बीते

छत्रत्रयप्रचलचामरवीज्यमान-

देवाभिनन्दन मुने सुमते जिनेन्द्र!

पद्मप्रभारुणमणिद्युतिभासुरांग,

त्वद्ध्यानतोऽस्तु सततं मम सुप्रभातम्॥ 3॥

अन्वयार्थ : प्रचलछत्रत्रय - चलायमान तीन छत्र और वीज्यमानचामर -
दुरते हुए चँवरों से सुशोभित, देवाभिनन्दन! - हे अभिनन्दन स्वामी!, सुमते मुने! -
सुमतिनाथ स्वामी!, अरुणमणिद्युति - पद्मरागमणि की कान्ति के समान, भासुरांग -
जिनके शरीर का तेज है ऐसे, पद्मप्रभुजिनेन्द्र - हे पद्मप्रभु जिनेन्द्र, त्वद्ध्यानतः -
आपके ध्यान से, मम - मेरा, सुप्रभातं सततं - हमेशा, अस्तु - हो।

भावार्थ : जिनके मस्तक पर तीनों लोकों का आधिपत्य दर्शाने वाले चलायमान
तीन सुन्दर छत्र सुशोभित होते हैं तथा जिनके दोनों ओर कुन्द-पुष्प के समान धवल 64
चँवर दुरते हैं - ऐसे श्री अभिनन्दननाथ स्वामी एवं सुमतिनाथ स्वामी तथा पद्मरागमणि
की कान्ति के समान जिनका शरीर अत्यन्त शोभायमान हो रहा है - ऐसे हे पद्मप्रभु

जिनेन्द्र! मेरा प्रातःकाल का समय हमेशा आपके ध्यान में व्यतीत हो।

मेरा प्रातःकाल आपके ध्यान में व्यतीत हो

अर्हन् सुपार्श्व कदलीदलवर्णगात्र
प्रालेयतारगिरिमौक्तिकवर्णगौर।

चन्द्रप्रभ स्फटिकपाण्डुर पुष्पदन्त,

त्वद्धान्तोऽस्तु सततं मम सुप्रभातम्॥4॥

अन्वयार्थ : कदलीदल - केले के पत्ते के समान, वर्णगात्र - शरीर के रंग वाले, अर्हन् सुपार्श्व! - हे सुपार्श्वनाथ स्वामी! प्रालेय - रजतगिरि, तारगिरि - श्वेत, मौक्तिक-वर्णगौर - मोती के समान सफेद वर्ण वाले, चन्द्रप्रभ - हे चन्द्रप्रभ स्वामी!, स्फटिक-पाण्डुर - स्फटिक के समान निर्मल धवल, पुष्पदन्त! - हे पुष्पदन्त जिनेन्द्र! त्वद्धान्तः - आपके ध्यान से, मम - मेरा, सुप्रभातं - सुप्रभात, सततं हमेशा, अस्तु - हो।

भावार्थ : जो केले के पत्ते अथवा उगते हुए धान्य के अंकुरों के समान हरित वर्ण वाले हैं - ऐसे हे सुपार्श्वनाथ स्वामी! रजतगिरि अर्थात् मोती के समान धवल वर्ण वाले हे चन्द्रप्रभ जिन! एवं स्फटिक मणि के समान निर्मल श्वेत वर्ण के धारक हे पुष्पदन्त जिनेन्द्र! आपके ध्यान से मेरा सुप्रभात हो।

मेरा प्रभात आपके ध्यान में व्यतीत हो

संतप्तकांचनरुचे जिन शीतलाख्य

श्रेयान्विनष्टदुरिताष्टकलंकपंक

बन्धूक-बंधुरुचे जिन वासुपूज्य,

त्वद्धान्तोऽस्तु सततं मम सुप्रभातम्॥5॥

अन्वयार्थ : सन्तप्त - तपाये हुए, कांचनरुचे - स्वर्ण के समान कान्ति के धारक, जिनशीतलाख्य हे शीतलनाथ जिन!, विनष्ट-दुरित - नष्ट किया है पाप स्वरूप, अष्ट कलंकपंक - आठ कर्मरूपी कीचड़ को जिन्होंने ऐसे, श्रेयान् - हे श्रेयांसनाथ भगवन्!, बन्धूक - बन्धूक पुष्प के समान, बन्धुरुचे - जिनके शरीर की

कान्ति सुन्दर है ऐसे, जिनवासुपूज्य - हे वासुपूज्य जिन!, त्वद्धान्तः - आपके ध्यान से, मम - मेरा, सुप्रभातं - सुप्रभात, सततं - हमेशा, अस्तु - हो।

भावार्थ : जिनके शरीर की कान्ति तपाये हुए स्वर्ण के समान है - ऐसे हे शीतलनाथ भगवान! पापरूपी अष्ट कर्मों के कर्दम (कीचड़) को नष्ट करते हैं अर्थात् धोने वाले हैं - ऐसे हे श्रेयांशनाथ स्वामी! तथा बन्धूक पुष्प के समान सुन्दर हरित कान्ति से युक्त देह वाले हे वासुपूज्य भगवन्! मेरा प्रातःकाल नित्य ही आपके ध्यान के साथ व्यतीत हो।

मेरी प्रभात आपके ध्यान में बीते

उद्दण्डदर्पकरिपो विमलामलाङ्ग

स्थेमन्ननन्त-जिदनन्तसुखाम्बुराशे।

दुष्कर्मकल्मषविवर्जित धर्मनाथ,

त्वद्धान्तोस्तु सततं मम सुप्रभातम्॥6॥

अन्यवार्थ : उद्दण्ड - उद्दण्ड है ऐसे, दर्प करिपो - काम का नाश करने वाले, विमलामलाङ्ग - निर्मल शरीर के धारक ऐसे हे विमलनाथ भगवान!, अनन्त अनन्त, सुखाम्बुराशे - सुख के समुद्र, स्थेमन्ननन्तजित - धैर्यशाली, ऐसे हे अनन्तनाथ जिन, दुष्कर्मकल्मष - दुष्ट कर्मरूपी पापमल से, विवर्जित - रहित ऐसे, धर्मनाथ - हे धर्मनाथ जिनेन्द्र!, त्वद् ध्यानतः - आपके ध्यान से, मम सुप्रभातं - मेरा सुप्रभात, सततं - सदा, अस्तु - हो।

भावार्थ : उद्दण्ड अर्थात् अवश काम-शत्रु को नाश करने वाले, निर्मल शरीर को धारण करने वाले श्री विमलनाथ स्वामी, अनन्त सुखों के समुद्र स्वरूप श्री अनन्तनाथ भगवन् एवं कर्मरूपी पापमल को दूर करने वाले हे धर्मनाथ भगवन्! मेरा सुप्रभात अहर्निश आपके ध्यान में व्यतीत हो।

मेरा सुप्रभात आपके ध्यान में व्यतीत हो

देवामरीकुसुमसन्निभ शान्तिनाथ,

कुन्थो दयागुणविभूषणभूषिताङ्ग।

देवाधिदेव भगवन्नरतीर्थनाथ,

त्वद्ध्यानतोऽस्तु सततं मम सुप्रभातम्॥7॥

अन्वयार्थ : अमरी-कुसुम - अमरी नामक पुष्प के, सन्निभ - समान जिनके शरीर का वर्ण है ऐसे, शान्तिनाथदेव! - हे शान्तिनाथ भगवन्!, दयागुणविभूषण - दयागुण रूपी आभूषण से भूषितांग - विभूषित है शरीर जिनका ऐसे, कुन्थो! - हे कुन्थुनाथ जिनेन्द्र!, तीर्थनाथ - तीर्थ के स्वामी, देवाधिदेव - देवों के भी देव, भगवन् अर - अरनाथ भगवान!, त्वद्ध्यानतः - आपके ध्यान से, मम सुप्रभातम् - मेरा सुप्रभात, सततं - हमेशा, अस्तु - हो।

भावार्थ : अमरी नामक पुष्प के समान अर्थात् तपाये हुए स्वर्ण के समान शरीर के वर्ण वाले श्री शान्तिनाथ स्वामी, दयागुण रूपी आभूषण से सुशोभित श्री कुन्थुनाथ तीर्थेश एवं तीर्थ के नायक शत इन्द्रों द्वारा पूजित देवाधिदेव अरनाथ तीर्थकर भगवन्! मेरा सुप्रभात आपके ही शुभ ध्यान में व्यतीत हो।

मेरा सुप्रभात आपके ध्यान में व्यतीत हो

यन्मोहमल्लमदभंजन मल्लिनाथ

क्षेमंकरावितथशासनसुव्रताख्य।

सत्संपदा प्रशमितो नमिनामधेय,

त्वद्ध्यानतोऽस्तु सततं मम सुप्रभातम्॥8॥

अन्वयार्थ : यत् - जो, मोहमल्ल - मोहरूपी मल्ल का, मदभंजन - मद का नाश करनेवाले हैं, ऐसे मल्लिनाथ - हे मल्लिनाथ स्वामी! क्षेमंकर - कल्याणकारी, अवितथ - सत्य, शासन - शासन है जिनका ऐसे, सुव्रताख्य - हे मुनिसुव्रत जिनेन्द्र!, सत्सम्पदा - श्रेष्ठ सम्पत्ति से, प्रशमितो - परम शान्त अवस्था को प्राप्त, नमिनामधेय - हे नमिनाथ स्वामी, त्वद्ध्यानतः - आपके ध्यान से, मम - मेरा, सुप्रभातम् - सुप्रभात, सततं - हमेशा, अस्तु - हो।

भावार्थ : जिन्होंने मोहरूपी मल्ल का नाश किया है ऐसे श्री मल्लिनाथ स्वामी!, परम कल्याणकारी सत्य शासन है जिनका - ऐसे श्री मुनिसुव्रतनाथ स्वामी! एवं जिन्होंने

तीनों लोकों में सर्वश्रेष्ठ रत्नत्रय रूप सम्पदा के द्वारा परम शान्त एवं सौम्य अवस्था को प्राप्त किया है - ऐसे श्री नमिनाथ स्वामी! मेरा सुप्रभात हमेशा आपके ध्यान में ही व्यतीत हो।

मेरा सुप्रभात आपके ध्यान में व्यतीत हो

तापिच्छगुच्छरुचिरोज्ज्वलनेमिनाथ

धरोपसर्गविजयिन् जिनपार्श्वनाथ।

स्याद्वादसूक्तिमणिदर्पणवर्द्धमान,

त्वद्धानतोऽस्तु सततं मम सुप्रभातम्॥9॥

अन्वयार्थ : तापिच्छगुच्छ - तमालवृक्ष के समुदाय के समान, रुचिरोज्ज्वल - सुन्दर उज्ज्वल कान्ति के धारक, नेमिनाथ - हे नेमिनाथ स्वामी!, धारोपसर्ग - भयंकर उपसर्ग को, विजयिन् - जीतने वाले, जिनपार्श्वनाथ! - हे पार्श्वनाथ जिन! तथा, स्याद्वादसूक्ति - स्याद्वाद सिद्धान्त रूपी, मणिदर्पण - मणि के लिए दर्पण के समान, वर्द्धिगत - हे वर्द्धमान स्वामी!, त्वद् - आपके, ध्यानतः - ध्यान से, मम सुप्रभातम् - मेरा सुप्रभात, सततं - सदा, अस्तु - हो।

भावार्थ : तमाल वृक्ष के समुदाय की सघन छाया के समान सुन्दर मनमोहक कान्ति के धारक श्री नेमिनाथ भगवान्, कमठ के द्वारा किये गये भयंकर उपसर्ग को जीतने वाले श्री पार्श्वनाथ भगवान् एवं स्याद्वाद सिद्धान्त रूपी मणि के लिए दर्पण के समान हैं - ऐसे वर्द्धमान स्वामी! आपके शुभ ध्यान से मेरा सुप्रभात व्यतीत है।

मेरी सुप्रभात आपके ध्यान में व्यतीत हो

प्रालेयनीलहरितारुणपीतभासं

यन्मूर्तिमव्ययसुखावसथं मुनीन्द्राः।

ध्यायन्ति सप्ततिशतं जिन वल्लभानां,

त्वद्धानतोऽस्तु सततं मम सुप्रभातम्॥10॥

अन्वयार्थ : यत् मूर्तिम् - जिनके शरीर की कान्ति, प्रालेय - धवल, नील

- नीले, हरितारुण - हरे, लाल एवं पीतभासं - पीत वर्ण से सुशोभित है, अव्यय - जो अविनाशी, सुखावस्थं - सुख के स्थान हैं ऐसे, सप्ततिशतं - एक सौ सत्तर, जिनवल्लभानाम् - जिन तीर्थकरों का, मुनीन्द्राः - जिन मुनिजन, ध्यायन्ति - ध्यान करते हैं (ऐसे हे तीर्थकर भगवन्त!), त्वद्धानतः - आपके ध्यान से, मम सुप्रभातं - मेरा सुप्रभात, सततं - सदा, अस्तु - हो।

भावार्थ : जिनके शरीर की कान्ति धवल, नील, हरित, लाल और पीत अर्थात् तपाये हुए स्वर्ण के समान वर्ण वाली है; जो अविनाशी, अक्षय, ध्रुव सुख के स्थान हैं - ऐसे 170 जिन तीर्थकर भगवन्तों के ध्यान में जिनका ध्यान बड़े-बड़े मुनिजन करते हैं, उनके ध्यान में मेरा सुप्रभात हमेशा व्यतीत हो।

तीर्थकर स्तवन मंगलरूप है

सुप्रभातं सुनक्षत्रं मांगल्यं परिकीर्तितम्।

चतुर्विंशतितीर्थानां सुप्रभातं दिने दिने॥11॥

अन्वयार्थ : दिने-दिने - प्रतिदिन, चतुर्विंशति - चौबीस, तीर्थानाम् - तीर्थकरों का, सुप्रभातं - प्रातःकाल का (स्तवन ध्यान), सुप्रभातं - सुप्रभात रूप, सुनक्षत्र - उत्तम नक्षत्र रूप तथा, मांगल्यं - मंगलरूप, परिकीर्तितम् - कीर्तन करने योग्य है।

पंच परमेष्ठी का सुप्रभात मंगलरूप है

सुप्रभातं सुनक्षत्रं श्रेयः प्रत्यभिनन्दितम्।

देवता ऋषयः सिद्धाः सुप्रभातं दिने दिने॥12॥

अन्वयार्थ : देवता - अर्हन्त देव, ऋषयः - मुनिजन, च - और, सिद्धाः - सिद्ध, दिने-दिने - प्रतिदिन, सुप्रभातं - सुप्रभात रूप हैं तथा वह, सुनक्षत्रं - सुनक्षत्र रूप तथा, श्रेयः - कल्याणकारी और, प्रत्यभिनन्दितम् - उत्तम मंगलरूप माना है।

भावार्थ : देवाधिदेव सर्वज्ञ भगवान्, गणधरादि मुनिजन एवं सिद्धालय में विराजे सिद्ध भगवान् प्रत्येक दिन के सुप्रभात रूप हैं और वह सुप्रभात उत्तम नक्षत्र एवं उत्तम

मंगलरूप माना गया है।

तीर्थेश ऋषभदेव का सुप्रभात उत्तम है

सुप्रभातं तवैकस्य वृषभस्य महात्मनः।

येन प्रवर्तितं तीर्थं भव्यसत्त्वसुखावहम्॥13॥

अन्वयार्थ : येन - जिन्होंने, भव्य - भव्य जीवों को, सुखावहम् - सुख देने वाले, तीर्थं प्रवर्तितं - तीर्थ को चलाया, तवैकस्य - उन अद्वितीय, वृषभस्य महात्मनः - महान आदिनाथ भगवान का, सुप्रभातं - प्रातःकाल उत्तम मानने योग्य है।

भावार्थ : जिन प्रथम तीर्थेश ने भव्य जीवों को सुख देने वाले तीर्थ का प्रवर्तन किया है - ऐसे उन महात्मन् श्री ऋषभदेव का प्रातःकाल ध्यान करना उत्तम मानने योग्य है।

जिनेन्द्र देव का सुप्रभात मंगलमय हो

सुप्रभातं जिनेन्द्राणां ज्ञानोन्मीलितचक्षुषाम्।

अज्ञानतिमिरान्धानां नित्यमस्तमितो रविः॥14॥

अन्वयार्थ : ज्ञानोन्मीलित - ज्ञान के द्वारा खोल दिये हैं, चक्षुषाम् - दूसरे जीवों के नेत्र, येन - जिन्होंने ऐसे, जिनेन्द्राणां - जिनेन्द्र भगवान का, सुप्रभातं - सुप्रभात, अज्ञानतिमिर - अज्ञान रूपी अंधकार से, अन्धानां - अन्धे पुरुष को (शुभं भूयात्) शुभ हो, नित्यम् - यह नित्य दिखने वाला, रविः - सूर्य तो, अस्तमितः - अस्त-स्वरूप है।

भावार्थ : जिन्होंने केवलज्ञान रूपी सूर्य के द्वारा अज्ञान अंधकार से ग्रस्त भव्य जीवों को सन्मार्ग दिखाया है - ऐसे उन जिनेन्द्र भगवान का सुप्रभात सभी के लिए मंगलमय एवं शुभ रूप है।

वर्द्धमान स्वामी का सुप्रभात मंगलमय हो

सुप्रभातं जिनेन्द्रस्य वीरः कमललोचनः।

येन कर्माटवी दग्धा शुक्लध्यानोग्रवह्निना॥15॥

अन्वयार्थ : कमललोचनः - कमल के समान नेत्र, वीरः - महावीर स्वामी, येन - जिन्होंने, शुक्लध्यान - शुक्लध्यानरूपी, उग्रवह्निना - तेज अग्नि के द्वारा, कर्माटवी दग्धा - कर्मरूपी जंगल को जला दिया है, जिनेन्द्रस्य - ऐसे उन जिनेन्द्र भगवान का, सुप्रभातं - सुप्रभात, (भद्रं भूयात्) कल्याण रूप हो।

भावार्थ : जिनके नेत्र कमल के समान सुन्दर हैं, जिन्होंने शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा कर्मरूपी अरण्य (वन) को जला दिया है - ऐसे उन वर्द्धमान स्वामी के ध्यान रूप सुप्रभात हम सबके लिए मंगलमय हो।

जिनशासन ही सुप्रभात और मंगलरूप है

सुप्रभातं सुनक्षत्रं सुकल्याणं सुमंगलम्।

त्रैलोक्यहितकर्तृणां जिनानामेव शासनम्॥16॥

अन्वयार्थ : त्रैलोक्य - तीन लोक का, हितकर्तृणां - हित करने वाले, जिनानाम् - जिनेन्द्र भगवान का, शासनम् एव - शासन ही, सुप्रभातं - सुप्रभात रूप, सुनक्षत्रं - उत्तम नक्षत्र रूप, सुकल्याणं - सुकल्याणरूप और, सुमंगलम् - सुमंगल रूप है।

॥ इति श्री सुप्रभातस्तोत्रम् ॥

9. श्री लघु स्वयंभूस्तोत्रम्

तीर्थकर आदिनाथ स्तुति

येन स्वयंबोधमयेन लोका, आश्वासिताः केचन वित्तकार्ये।
प्रबोधिताः केचन मोक्षमार्गे तमादिनाथं प्रणमामि नित्यम्॥1॥

अन्वयार्थ : येन – जिन्होंने, स्वयंबोधमयेन – स्वयं प्रकट हुए ज्ञान से कुछ लोगों को, वित्तकार्ये – धन के कार्यों (आजीविका के कार्यों), आश्वासिताः – स्थिर किए केचन लोकाः – कुछ लोगों को, मोक्षमार्गे – मोक्षमार्ग में, प्रबोधिताः – सम्बोधन (उपदेश) देकर लगा दिया, तं आदिनाथं – उन आदिनाथ तीर्थकर को, नित्यं प्रणमामि – सदा प्रणाम करता हूँ।

भावार्थ : जिन्होंने स्वयं उत्पन्न हुए ज्ञान के द्वारा संसार में किन्हीं लोगों को धनोपार्जन हेतु आजीविका के कार्य में स्थिर किया तथा किन्हीं लोगों को अनेक प्रकार से संबोधित कर मोक्षमार्ग में लगाया। उन आदि तीर्थकर भगवान श्री ऋषभदेव को मैं सदा प्रणाम करता हूँ।

तीर्थकर अजितनाथ स्तुति

इन्द्रादिभिः क्षीरसमुद्र-तोयैः, संस्नापितो मेरुगिरौ जिनेन्द्रः।
यः कामजेता जनसौख्यकारी, तं शुद्धभावादजितं नमामि॥2॥

अन्वयार्थ : यः कामजेता – जो कामजयी हैं, जन-सौख्यकारी – मनुष्यों को आनंदकारी हैं, जिनका – मेरुगिरौ सुमेरु पर्वत पर, इन्द्रादिभिः – इन्द्र आदि के द्वारा, क्षीरसमुद्रतोयैः – क्षीर समुद्र के जल से, संस्नापितो – स्नपन – अभिषेक किया गया, तं अजितं – उन अजितनाथ जिनेन्द्र को, शुद्धभावात् – शुद्ध भाव से, नमामि – नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ : जो काम को जीतनेवाले हैं, प्राणियों को आनंदित करनेवाले हैं, जिनका

सुमेरु पर्वत पर इन्द्रों के द्वारा क्षीर समुद्र के जल से अभिषेक किया गया; उन अजितनाथ जिनेन्द्र को शुद्धभाव से मैं प्रणाम करता हूँ।

तीर्थकर संभवनाथ स्तुति

ध्यान-प्रबन्धः प्रभवेन येन, निहत्य कर्मप्रकृतिः समस्ताः।

मुक्तिस्वरूपां पदवीं प्रपेदे, तं सम्भवं नौमि महानुरागात्॥3॥

अन्वयार्थ : येन - जिन्होंने, प्रबन्धः ध्यान - निरंतर ध्यान के, प्रभवेन समस्ताः - प्रभाव से संपूर्ण, कर्मप्रकृतिः - कर्म प्रकृतियों को, निहत्य - नष्ट कर, मुक्तिस्वरूपां - मोक्ष स्वरूप, पदवीं प्रपेदे - पद को प्राप्त किया, तं सम्भवं - उन संभवनाथ जिन को, महानुरागात् - महान भक्ति से, नौमि - मैं नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ : जिन्होंने सतत ध्यान के प्रभाव से समस्त कर्म प्रकृतियों को नष्ट कर मोक्ष स्वरूप को प्राप्त किया है। उन संभवनाथ जिन को महान भक्ति से मैं नमस्कार करता हूँ।

तीर्थकर अभिनन्दननाथ स्तुति

स्वप्ने यदीया जननी क्षपायां, गजादि वह्न्यन्तमिदं ददर्श।

यत्तात इत्याह गुरुः परोऽयं, नौमि प्रमोदादभिनन्दनं तम्॥4॥

अन्वयार्थ : यदीया - जिनकी जननी - माता ने, क्षपायां स्वप्ने गजादि - रात्रिक स्वप्न में हाथी से प्रारंभ कर, वह्न्यन्तं - अग्निपर्यन्त, इदं ददर्श - ये सोलह चिह्न देखे, यत्तात - जिनके पिता ने, गुरुः परोऽयं - यह उत्कृष्ट गुरु होंगे, इति आह - इस प्रकार कहा, तम् अभिनन्दनं - उन अभिनन्दननाथ को, प्रमोदात् - हर्ष भाव से, नौमि - नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ : जिनकी माता ने रात्रि के समय में हाथी से प्रारंभ कर अग्नि पर्यंत सोलह स्वप्न देखे। उनके फल बताते हुए जिनके पिता ने कहा कि ये श्रेष्ठ गुरु होंगे। उन अभिनन्दननाथ भगवान को नमस्कार करता हूँ।

तीर्थकर सुमतिनाथ स्तुति

कुवादिवादं जयता महान्तं, नय प्रमाणैर्वचनैर्जगत्सु।
जैनं मतं विस्तरितं च येन, तं देवदवं सुमतिं नमामि॥5॥

अन्वयार्थ : येन – जिन्होंने, नयप्रमाणैर्वचनै – नय-प्रमाणरूप वचनों के द्वारा, कुवादिवादं – छोटे मतवादियों के वाद को, जयता जगत्सु – जीतकर संसार में, महान्तं – महान धर्म, जैनं मतं – जैन मत को, विस्तारितं – फैलाया, तं देवाधिदेवं – उन देवाधिदेव, सुमतिं – सुमतिनाथ जिनेन्द्र को, नमामि – नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ : जिन्होंने नय-प्रमाण वचनों के द्वारा छोटे कुवादियों के वाद को जीतकर महान जैनधर्म को फैलाया, उन तीर्थकर सुमतिनाथ को मैं नमस्कार करता हूँ।

तीर्थकर पद्मप्रभ स्तुति

यस्यावतारे सति पितृधिष्णये, ववर्ष रत्नानि हरेर्निदेशात्।
धनाधिपः षण्णव-मासपूर्व, पद्मप्रभं तं प्रणमामि साधुम्॥6॥

अन्वयार्थ : यस्य – जिनके, अवतारे सति – अवतार होने पर, हरेः – सौधर्म इंद्र की, निदेशात् – आज्ञा से, धनाधिपः – कुबेर ने, पितृधिष्णये – पिता के आँगन में, षण्णवमासपूर्व – छह और नौ माह पूर्व तक (पन्द्रह माह), रत्नानि ववर्ष – रत्नों को बरसाया, तं पद्मप्रभं – उन पद्मप्रभ, साधुं – साधु (जिन) को, प्रणमामि – प्रणाम करता हूँ।

भावार्थ : जिनके अवतरित (गर्भ-जन्म) होने पर सौधर्म इंद्र की आज्ञा से धनपति कुबेर ने पिता के आँगन में छह और नौ माह अर्थात् पन्द्रह माह तक रत्नों की वृष्टि की उन पद्मप्रभ साधु (जिन) को मैं प्रणाम करता हूँ।

तीर्थकर सुपार्श्वनाथ स्तुति

नरेन्द्र-सर्पेश्वर नाथनाकैः, वाणी भवन्ति जग्रहे स्वचित्ते।
यस्यात्मबोधः प्रथितः सभायामहं सुपार्श्वं ननु तं नमामि॥7॥

अन्वयार्थ : भवन्ति - आपकी जिनकी, वाणी - दिव्यध्वनि की, नरेन्द्र-सर्पेश्वर - राजा धरणेन्द्र (नागेन्द्र), नाकनाथैः - स्वर्ग के स्वामी (सौधर्म इन्द्र ने), स्वचित्ते जग्रहे - अपने हृदय में धारण किया, यस्यात्मबोधः - जिनका आत्मज्ञान सभायां प्रथितः - सभा में प्रसिद्ध हुआ, तं सुपार्श्व - उन सुपार्श्वनाथ भगवान को, अहं - मैं, ननु - निश्चय से, नमामि - नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ : जिनकी ध्वनि को राजा, धरणेन्द्र, सौधर्म इन्द्र ने अपने हृदय में धारण किया; जिनका आत्मज्ञान सभा में प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ, उन सुपार्श्वनाथ भगवान को मैं निश्चय से नमस्कार करता हूँ।

तीर्थकर चन्द्रप्रभ स्तुति

सत्प्रातिहार्यातिशय-प्रपन्नो, गुण-प्रवीणो हत-दोष-संगः।

यो लोकमोहान्धतमः प्रदीपश्च, चन्द्रप्रभं तं प्रणमामि भावात्॥८॥

अन्वयार्थ : सत्प्रातिहार्य - सुन्दर प्रातिहार्यों के, अतिशयप्रपन्नो - अतिशयों को प्राप्त हुए, गुणप्रवीणो - गुणों में प्रवीण, हतदोषसंगः - अठारह दोष परिग्रह को नष्ट कर दिया, लोकमोहान्धतमः - संसार के जीवों के मोहरूपी अंधकार को दूर करने वाले, प्रदीपः - प्रकृष्ट दीप हैं - ऐसे, चन्द्रप्रभं - चन्द्रप्रभ भगवान को, भावात् प्रणमामि - निर्मल भाव से प्रणाम करता हूँ।

भावार्थ : जो सुन्दर आठ प्रातिहार्यों के अतिशय को प्राप्त हुए गुणों में प्रवीण, दोष एवं परिग्रह रहित (वीतरागी, निष्परिग्रही) हैं। संसार के प्राणियों के मोहरूपी अंधकार को दूर करने हेतु अच्छे दीपक के समान हैं - ऐसे चन्द्रप्रभ भगवान को निर्मल भाव से प्रणाम करता हूँ।

तीर्थकर पुष्पदन्त प्रभु स्तुति

गुप्तित्रयं पंच महाव्रतानि पंचोपदिष्टाः समितीश्च येन।

बभाण यो द्वादशधा तपांसि तं पुष्पदन्तं प्रणमामि देवम्॥९॥

अन्वयार्थ : येन - जिन्होंने, गुप्तित्रयं - तीन गुप्ति (मन, वचन, काय),

पंचमहाव्रतानि – पाँच महाव्रत, पंच समिती: – पाँच समितियों का, उपदिष्टा: च – उपदेश दिया और, द्वादशधा तपांसि – बारह प्रकार के तपों को, बभाण – कहा है, तं पुष्पदन्तं देवम् – उन पुष्पदन्त जिनदेव को, प्रणमामि – प्रणाम करता हूँ।

भावार्थ : जिन्होंने तीन गुप्ति, पाँच महाव्रत, पाँच समितियों का उपदेश दिया और बारह प्रकार के तपों को कहा; उन पुष्पदन्त जिनदेव को मैं प्रणाम करता हूँ।

तीर्थकर शीतलनाथ स्तुति

ब्रह्म-व्रतान्तो जिननायकेन, उत्तमक्षमादिर्दशधापि धर्मः।

येन प्रयुक्तो व्रतबन्धबुद्ध्या, तं शीतलं तीर्थकरं नमामि॥10॥

अन्वयार्थ : जिननायकेन – मोक्षमार्ग के नेता जिनेन्द्र देव ने, व्रतबन्धबुद्ध्या – व्रतों के समुदाय को बुद्धि से, उत्तमक्षमादि: – उत्तम क्षमा आदि को लेकर, ब्रह्म-व्रतान्तो – ब्रह्मचर्य व्रत पर्यन्त, दशधापि धर्मः – दश प्रकार के धर्मों आदि का, येन प्रयुक्तः – जिन्होंने पालन किया। तं शीतलं – उन शीतलनाथ, तीर्थकरं नमामि – तीर्थकर को नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ : मोक्षमार्ग के नेता जिनेन्द्रदेव ने बुद्धि के द्वारा उत्तम क्षमा से प्रारंभ कर ब्रह्मचर्य पर्यन्त दस प्रकार के धर्म का पालन किया, उन शीतलनाथ भगवान को मैं नमस्कार करता हूँ।

तीर्थकर श्रेयांसनाथ स्तुति

गणे जनानन्द-करे धरान्ते, विध्वस्त-कोपे प्रशमैकचित्ते।

यो द्वादशांगं श्रुतमादिदेश, श्रेयांसमानौमि जिनं तमीशम्॥11॥

अन्वयार्थ : यः धरान्ते – जो पृथ्वी पर्यन्त, गणे जनानन्दकरे – प्राणी समुदाय में आनंद करने वाले जिनने, विध्वस्तकोपे – क्रोध को नष्ट कर दिया है, प्रशमैकचित्ते – शांत चित्त वाले, द्वादशांग – बारह अंग वाले, श्रुतम् आदिदेश – श्रुतज्ञान का उपदेश दिया, तं श्रेयांसं, जिनं ईशम् – उन श्रेयांस जिन स्वामी को, आनौमि – मैं नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ : जो पृथ्वी पर्यन्त प्राणी समुदाय में आनंदकारी, क्रोधनाशी, शान्तचित्त हैं। बारह अंग रूप श्रुतज्ञान का उपदेश देने वाले उन श्रेयांसनाथ भगवान को नमस्कार करता हूँ।

तीर्थकर वासुपूज्य स्तुति

मुक्त्यंगनाया रचिता विशाला, रत्नत्रयी-शेखरता च येन।

यत्कण्ठमासाद्य बभूव श्रेष्ठा, तं वासुपूज्यं प्रणमामि वेगात्॥12॥

अन्वयार्थ : येन मुक्त्यंगनायाः - जिन्होंने मुक्तिरूपी वधू के लिए, विशाला रत्नत्रयी - विशाल रत्नत्रयी रूपी, शेखरता रचिता - मुकुट रचा, निर्मित किया, यत्कण्ठम् - जिनके कण्ठ को आसाद्य - ग्रहण कर, श्रेष्ठा - श्रेष्ठ, बभूव - हो गई, तं - उन, वासुपूज्यम् - वासुपूज्य भगवान को, प्रणमामि - शीघ्रता से वेगात् - प्रणाम करता हूँ।

भावार्थ : जिन्होंने मुक्ति-वधू के लिए, रत्नत्रय रूपी विशाल मुकुट रचा और मुक्तिवधू जिनके कण्ठ को पाकर धन्य हो गई। उन वासुपूज्य भगवान के लिए शीघ्रता से प्रणाम करता हूँ।

तीर्थकर विमलनाथ स्तुति

ज्ञानी विवेकी परम-स्वरूपी, ध्यानी व्रती प्राणि-हितोपदेशी।

मिथ्यात्वघाती शिवसौख्यभोजी, बभूव यस्तं विमलं नमामि॥13॥

अन्वयार्थ : यः विवेकी - जो ज्ञानी, ज्ञानवान, परम-स्वरूपी - परमात्म स्वरूप के धारक, ध्यान-व्रती - ध्यान करने वाले व्रतधारी, प्राणि-हितोपदेशी - प्राणियों को हितोपदेश देने वाले, मिथ्यात्वघाती - मिथ्यात्व नाशक, शिव-सौख्यभोजी - मोक्ष-सुख के भोगी, बभूव - हुए, तं विमलं नमामि - उन विमलनाथ भगवान को नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ : जो ज्ञानवान, विवेकवान, परम आत्म-स्वरूप के धारक, उत्कृष्ट ध्यान करने वाले, व्रतधारी प्राणियों को हितोपदेश देने वाले, मिथ्यात्व को नाश करने

वाले, मोक्ष-सुख का भोग करने वाले हैं, उन विमलनाथ भगवान को नमस्कार करता हूँ।

तीर्थकर अनन्तनाथ स्तुति

आभ्यन्तरं बाह्यमनेकधा यः, परिग्रहं सर्व-मपाचकार।

यो मार्गमुद्दिश्य हितं जनानां, वन्दे जिनं तं प्रणमाम्यनन्तम्॥14॥

अन्वयार्थ : यः जनानाम् - प्राणियों के, हितामार्गम् उद्दिश्य - कल्याण मार्ग को लक्ष्य करके, बाह्यम्-आभ्यन्तरं - बहिरंग और अन्तरंग, अनेकधा परिग्रहं - अनेक (विविध प्रकार) मूर्च्छाभाव को, सर्वम् अपाचकार - सभी तरह दूर कर दिया, तं अनन्तम् जिनं - उन अनन्तनाथ जिन को, प्रणमामि - प्रणाम करता हूँ।

भावार्थ : जिन्होंने प्राणियों के कल्याण-मार्ग को लक्ष्य करके अन्तरंग-बहिरंग विविध प्रकार के परिग्रह को भी सभी तरह छोड़ दिया, उन अनन्तनाथ जिन को प्रणाम करता हूँ।

तीर्थकर धर्मनाथ स्तुति

साङ्गं पदार्था नव सप्ततत्त्वैः, पंचास्तिकायाश्च न कालकायाः।

षडद्रव्य-निर्णीतिरलोकयुक्तिर्, येनोदिता तं प्रणमामि धर्मम्॥15॥

अन्वयार्थ : येन षडद्रव्य - जिन्होंने छह द्रव्य, नवपदार्थ - नव पदार्थ, सप्ततत्त्वैः - सात तत्त्वों के, साङ्गं - साथ में, पंचास्तिकायाः च - पाँच अस्तिकाय और, न कालकायाः - कालद्रव्य कायवान (बहुप्रदेशी) नहीं है, निर्णीतिः युक्तिः - निर्णीत किया, युक्ति से ज्ञान कराया, अलोक-उदिता - अलोकाकाश को प्रकाशित किया, तं धर्मं प्रणमामि - उन धर्मनाथ तीर्थकर को प्रणाम करता हूँ।

भावार्थ : जिन्होंने छह द्रव्य, नव पदार्थ, सात तत्त्वों का ज्ञान कराया तथा इनके साथ में यह भी बताया कि पाँच द्रव्य बहुप्रदेशी होने के कारण अस्तिकाय हैं। जीव-अजीव आदि छह द्रव्यों में से काल द्रव्य बहुप्रदेशी अर्थात् कायवान नहीं है - यह ज्ञान कराया और युक्ति के द्वारा अलोकाकाश का कथन किया, उन धर्मनाथ तीर्थकर को प्रणाम करता हूँ।

तीर्थकर शान्तिनाथ स्तुति

यश्चक्रवर्ती भुवि पंचमोऽभूत्, श्रीनन्दनो द्वादशको गुणानाम्।

निधिप्रभुः षोडशको जिनेन्द्रः तं शान्तिनाथं प्रणमामि भेदात्॥16॥

अन्वयार्थ : यः भुवि – जो पृथ्वी पर, गुणानाम्, निधिप्रभुः – गुणों और निधियों के स्वामी, पंचमः चक्रवर्ती – पाँचवें चक्रवर्ती, द्वादशकोः श्रीनन्दनः – बारहवें कामदेव, षोडशकोः जिनेन्द्रः – सोलहवें तीर्थकर, अभूत् – हुए, तं शान्तिनाथम् – उन शान्तिनाथ को, भेदात् प्रणमामि – पृथक्-पृथक् प्रणाम करता हूँ।

भावार्थ : जो पृथ्वी पर गुणों और नव-निधियों के स्वामी, पाँचवें चक्रवर्ती, बारहवें कामदेव, सोलहवें तीर्थकर हुए; उन शान्तिनाथ भगवान को पृथक्-पृथक् प्रणाम करता हूँ।

तीर्थकर कुन्थुनाथ स्तुति

प्रशंसितो यो न विभर्ति हर्षं, विराधितो यो न करोति रोषम्।

शील-व्रताद्ब्रह्मपदं गतो यस्य, तं कुन्थुनाथं प्रणमामि हर्षात्॥17॥

अन्वयार्थ : यः प्रशंसितः – जो प्रशंसा किये जाने पर, हर्षं न विभर्ति – हर्ष को प्राप्त नहीं होते, विराधितः – विराधना से, रोषं न करोति – क्रोध नहीं करते, यः शीलव्रताद् – जो शीलव्रतों से, ब्रह्मपदं गतः – परमात्मपद को प्राप्त हुए, तं कुन्थुनाथं उन कुन्थुनाथ भगवान को, प्रणमामि – प्रणाम करता हूँ, हर्षात् – हर्ष भाव से।

भावार्थ : जो प्रशंसा किए जाने पर हर्षित नहीं होते, विराधना किए जाने पर क्रोध नहीं करते। शीलव्रतों से परमात्म-पद को प्राप्त उन कुन्थुनाथ भगवान को हर्ष भाव से प्रणाम करता हूँ।

तीर्थकर अरनाथ स्तुति

न संस्तुतो न प्रणतः सभायां, यः सेवितोऽन्तर्गण-पूरणाय।

पदच्युतैः केवलिभि-र्जिनस्य, देवाधिदेवं प्रणमाम्यरं तम्॥18॥

अन्वयार्थ : यः पदच्युतः – जो पद से रहित हैं, केवलिभिः न संस्तुतः –

केवलियों के द्वारा स्तुति नहीं किये गये, न प्रणतः - न प्रणाम किए गए किन्तु, अन्तर्गणपूरणाय - अन्तर्गण की पूर्ति के लिए, यः सेवितः - जो सेवित हुए, आदर को प्राप्त हुए, तं अरं - उन अरनाथ भगवान को, प्रणमामि - प्रणाम करता हूँ।

भावार्थ : जो पद रहित हैं। समवशरण में विराजमान सामान्य केवलियों के द्वारा स्तुति किये गये नमस्कार नहीं किये, किन्तु अन्तर्गण की पूर्ति के लिए जो सेवित हुए अर्थात् आदर को प्राप्त हुए, उन अरनाथ भगवान को प्रणाम करता हूँ।

तीर्थकर मल्लिनाथ स्तुति

रत्नत्रयं पूर्व-भवान्तरे यो, व्रतं पवित्रं कृतवानशेषम्।

कायेन वाचा मनसा विशुद्धया, तं मल्लिनाथं प्रणमामि भक्त्या॥19॥

अन्वयार्थ : यः मनसा वाचा कायेन - जिन्होंने मन-वचन-काय से, विशुद्धया - शुद्धता पूर्वक, भवान्तरे अशेषम् - पूर्व भव में समस्त, रत्नत्रयं व्रतं - रत्नत्रय व्रत को, पवित्रं कृतवान् - पवित्र किया, तं मल्लिनाथं - उन मल्लिनाथ जिन को, भक्त्या - भक्ति से, प्रणमामि - प्रणाम करता हूँ।

भावार्थ : जिन्होंने मन-वचन-काय से विशुद्धता पूर्वक पूर्व-भव में समस्त रत्नत्रय व्रत को पवित्र (धारण) किया। उन मल्लिनाथ जिनेन्द्र प्रभु को भक्ति से मैं प्रणाम करता हूँ।

तीर्थकर सुव्रतनाथ स्तुति

ब्रूवन्नमः सिद्धपदाय-वाक्यमित्यग्रहीद्यः स्वयमेव लोचम्।

लोकान्तिकेभ्यः स्तवनं निशम्य, वन्दे जिनेशं मुनिसुव्रतं तम्॥20॥

अन्वयार्थ : यः लोकान्तिकेभ्यः - जिन्होंने लोकान्तिक देवों के द्वारा, स्तवनं निशम्य - स्तुति को सुनकर, सिद्धपदाय नमः - सिद्धपद के लिए नमस्कार हो, इति वाक्यं - यह वचन बोलकर, स्वयमेव लोचम् अग्रहीत - स्वयं केशलोच किये, तं मुनिसुव्रतं - उन मुनिसुव्रत, जिनेशं वन्दे - जिन स्वामी को नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ : जिन्होंने लोकान्तिक देवों के द्वारा वैराग्यमयी स्तुति सुनकर सिद्ध

परमात्मा के लिए नमस्कार हो - ऐसे वचन बोलकर अपना केशलोच किया, उन मुनिसुव्रत जिन स्वामी को नमस्कार करता हूँ।

तीर्थकर नमिनाथ स्तुति

विद्यावते तीर्थकराय तस्मा-याहारदानं ददतो विशेषात्।

गृहे नृपस्याजनि रत्नवृष्टि-स्तौमि प्रमाणान् नयतो नमिं तम्॥21॥

अन्वयार्थ : यः विद्यावते - जो सम्यग्ज्ञान संपन्न, तीर्थकराय - तीर्थकर, तस्मै - उनके लिए, आहारदानं ददतः - आहार देने के, विशेषात् नृपस्य - प्रभाव से राजा के, गृहे रत्नवृष्टिः अजनि - घर में रत्नों की वर्षा हुई, तं नमिं प्रमाणात् नयतः - उन नमिनाथ की प्रमाण व नय के द्वारा, स्तौमि - स्तुति करता हूँ, प्रणाम करता हूँ।

भावार्थ : जो सम्यग्ज्ञान सम्पन्न तीर्थकर देव हैं, उनको मुनि अवस्था में आहार देने के प्रभाव से राजा के भवन में रत्नों की वृष्टि हुई। मैं उनकी प्रमाण व नय द्वारा स्तुति करता हूँ, प्रणाम करता हूँ।

तीर्थकर नेमिनाथ स्तुति

राजीमतीं यः प्रविहाय मोक्षे, स्थितिं चकारापुनरागमाय।

सर्वेषु जीवेषु दयादधानस्, तं नेमिनाथं प्रणमामि भक्त्या॥22॥

अन्वयार्थ : यः सर्वेषु जीवेषु - जो सभी जीवों में, दयादधानः - दया भाव धारण करने वाले, अपुनरागमाय - पुनः न आने के प्रयोजन से, राजीमतीं - राजीमती को, प्रविहाय - छोड़कर और मोक्षे - मोक्ष में, स्थितिं चकार - स्थान बनाया, तं नेमिनाथं भक्त्या - उन नेमिनाथ भगवान को भक्ति सहित, प्रणमामि - प्रणाम करता हूँ।

भावार्थ : जो जीवों में दया भाव को धारण करने वाले पुनः संसार में आने के प्रयोजन से राजुल को छोड़कर मोक्ष में स्थित हुए, उन नेमिनाथ भगवान को प्रणाम करता हूँ।

तीर्थकर पार्श्वनाथ स्तुति

सर्पाधिराजः कमठारितो-यैर्, ध्यानस्थितस्यैव फणावितानैः।

यस्योपसर्गं निरवर्तयत्तं, नमामि पार्श्वं महतादरेण॥23॥

अन्वयार्थ : ध्यानस्थितस्य - ध्यान में तल्लीन, यस्य - जिन पार्श्वनाथ जिनेन्द्र का, कमठारितः - कमठ नाम के शत्रु से, उपसर्ग - उपसर्ग को, सर्पाधिराजः - सर्पों के स्वामी ने, यैः फणावितानैः - जिन फणों के विस्तार से, निरवर्तयत् तं पार्श्वं - दूर किया उन पार्श्वनाथ जिनेन्द्र को, महत् आदरेण - महान आदर भाव से, नमामि - नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ : धरणेन्द्र ने, ध्यान में तल्लीन जिन पार्श्वनाथ भगवान का कमठ के द्वारा किये गये उपसर्ग को अपने फण फैलाकर दूर किया था, उन पार्श्वनाथ को मैं नमस्कार करता हूँ।

तीर्थकर वर्द्धमान स्तुति

भवार्णवे जन्तु-समूहमेन, माकर्षयामास हि धर्म-पोतात्।

मज्जन्तमुद्वीक्ष्य य येनसापि, श्रीवर्द्धमानं प्रणमाम्यहं तम्॥24॥

अन्वयार्थ : एनसा - पाप के कारण, भवार्णवे - संसाररूपी समुद्र में, मज्जन्तं - डूबते हुए, एनं जन्तुसमूहं - इस प्राणी के समूह को, उद्वीक्ष्य - देखकर, धर्मपोतात् - धर्मरूपी जहाज के सहारे से, आकर्षयामास - अपनी ओर आकृष्ट किया, हि - निश्चय से, तं श्रीवर्द्धमानं - उन श्री वर्द्धमान जिनेन्द्र को, अहं प्रणमामि - मैं नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ : पाप के कारण संसार-समुद्र में डूबते हुए जीवों को जिन्होंने धर्मरूपी जहाज के सहारे निकाल दिया, उन अन्तरंग-बहिरंग लक्ष्मी के धारी श्री वर्द्धमान जिनेन्द्र को नमस्कार करता हूँ।

विधि एवं फल

यो धर्मं दशधा करोति पुरुषः स्त्री वा कृतोपस्कृतं

सर्वज्ञध्वनि-सम्भवं त्रिकरण-व्यापार-शुद्ध्यानिशम,

भव्यानां जयमालया विमलया पुष्पांजलिंदापयन्
नित्यं स श्रियमातनोति सकलं स्वर्गापवर्गस्थितिम्॥25॥

अन्वयार्थ : यः पुरुषः जो पुरुष, वा स्त्री – या स्त्री, भव्यानां – भव्य पुरुषों के, कृतोपस्कृतं – किये गये, विमलया – विमल, जयमालया – गुणानुवाद के साथ, पुष्पांजलिं – पुष्पांजलि, दापयन् – समर्पण करता हुआ, त्रिकरण-व्यापारशुद्धया – शुद्ध मन-वचन-काय से, सर्वज्ञ-ध्वनिसम्भवं – सर्वज्ञ की ध्वनि से उत्पन्न, दशधा धर्मम् – दश प्रकार के धर्म को, अनिशम् करोति – प्रतिदिन करता है, सः – वह, स्वर्गापवर्ग – स्वर्ग और मोक्ष में, स्थितिम् – स्थित, सकलं श्रियम् – समस्त लक्ष्मी का, आतनोति – विस्तार करता है।

भावार्थ : जो पुरुष या स्त्री भव्य पुरुषों के द्वारा किये गये विमल गुणानुवाद के साथ पुष्पांजलि समर्पण करता हुआ शुद्ध मन-वचन-काय से प्रतिदिन सर्वज्ञ भासित दश प्रकार के धर्म का आदर पूर्वक पालन करता है, वह सदा स्वर्ग और मोक्षरूपी लक्ष्मी का विस्तार करता है।

॥ इति श्री लघु स्वयंभूस्तोत्रम् ॥

10. श्री गणधरवल्लयस्तोत्रम्

जिनान् जितारातिगणान् गरिष्ठान्,
देशावधीन् सर्व - परावधींश्च।
सत् कोष्ठबीजादि-पदानुसारीन्,
स्तुवे गणेशानापि तद् गुणाप्त्यै॥1॥

अन्वयार्थ : जिताराति - जिन्होंने घातिया कर्म शत्रु को जीत लिया है, जिनान् - ऐसे जिनेन्द्र भगवान्, गणान् - गुणों में गरिष्ठान् - श्रेष्ठ हैं, देशावधीन् - देशावधि, सर्वपरावधीन् च - सर्वावधि और परमावधि धारक, सत्कोष्ठ - कोष्ठ ऋद्धि, बीजादिपदानुसारीन् - बीज ऋद्धि और पदानुसारि ऋद्धि के धारक, गणेशानपि - गणधर देवों की, तद् - उनके, गुणाप्त्यै - गुणों की प्राप्ति के लिए, स्तुवे - मैं स्तुति करता हूँ।

भावार्थ : ज्ञानावरणादि घातिया कर्म रूप शत्रुओं पर जिन्होंने विजय प्राप्त कर ली है अर्थात् कर्म शत्रुओं को जिन्होंने जीत लिया है, वे जिन संज्ञा को प्राप्त हैं। ऐसे जिन, गुणों में श्रेष्ठ हैं। देशावधि, परमावधि और सर्वावधिज्ञान के धारी हैं, कोष्ठ ऋद्धि, बीज ऋद्धि और पदानुसारी ऋद्धि जिनको प्राप्त है, ऐसे गणधर देव के गुणों की प्राप्ति के लिए मैं उनकी स्तुति करता हूँ।

संभिन्न-श्रोतान्वित-सन् मुनीन्द्रान्,
प्रत्येक-सम्बोधित-बुद्धधर्मान्।
स्वयं प्रबुद्धांश्च विमुक्तिमार्गान्,
स्तुवे गणेशानपि तद् गुणाप्त्यै॥2॥

अन्वयार्थ : संभिन्नश्रोतान्वित - संभिन्न श्रोतृत्व से सहित, प्रत्येक - प्रत्येक बुद्ध, सम्बोधितबुद्ध - बोधित बुद्ध, च - और, स्वयंप्रबुद्धान् - स्वयं बुद्ध जो, विमुक्तिमार्गान् धर्मान् - मोक्षमार्गरूप धर्म के, सन्मुनीन्द्रान् - सच्चे मुनियों के स्वामी हैं, गणेशान् अपि - ऐसे गणधर देवों की, तद् - उनके, गुणाप्त्यै - गुणों की प्राप्ति

के लिए, स्तुवे - मैं स्तुति करता हूँ।

भावार्थ : जो संभिन्न श्रोतृत्व से प्रत्येक बुद्ध, बोधित बुद्ध और स्वयं बुद्ध ऋद्धि से सहित मोक्षमार्ग रूप धर्म के सच्चे मुनियों के स्वामी हैं - ऐसे गणधर देवों के गुणों की प्राप्ति के लिए मैं उनकी स्तुति करता हूँ।

द्विधा मनःपर्ययचित् प्रयुक्तान्,
द्वि पञ्च सप्तद्वय पूर्वसक्तान्।
अष्टांग नैमित्तिक-शास्त्रदक्षान्,
स्तुवे गणेशानपि तद् गुणाप्त्यै॥3॥

अन्वयार्थ : द्विधा - जो दो प्रकार के, मनःपर्ययचित्प्रयुक्तान् - मनःपर्ययज्ञान के धारक हैं, द्वि - दो प्रकार के श्रुतज्ञान और, पञ्च - पाँच प्रकार के दृष्टिवाद के धारक हैं, सप्तद्वयपूर्वसक्तान् - चौदह पूर्व से युक्त हैं, अष्टांग नैमित्तिक - अष्टांग महानिमित्त के, शास्त्रदक्षान् - शास्त्र में कुशल हैं ऐसे, गणेशान् अपि - गणधर देवों की, तद् - उनके, गुणाप्त्यै - गुणों की प्राप्ति हेतु, स्तुवे - मैं उनकी स्तुति करता हूँ।

भावार्थ : जो ऋजुमति और विपुलमति रूप दो प्रकार के मनःपर्यय ज्ञान के धारी हैं, अंग बाह्य और अंग प्रविष्ट रूप दो प्रकार के श्रुतज्ञान, पाँच प्रकार के दृष्टिवाद (परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका) और चौदह पूर्व से सहित हैं। जो आठ प्रकार के महानिमित्त शास्त्र के ज्ञाता हैं - ऐसे गणधर देवों को उनके गुणों की प्राप्ति के लिए मैं भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।

विकुर्वणाख्यद्धिं महाप्रभावान्,
विद्याधरांश्चारण-ऋद्धिप्राप्तान्।
प्रज्ञाश्रितान् नित्यं ख-गामिनश्च,
स्तुवे गणेशानपि तद् गुणाप्त्यै॥4॥

अन्वयार्थ : महाप्रभावान् - जो महा प्रभावशाली, विकुर्वणाख्य-ऋद्धि - विक्रिया ऋद्धि के धारक हैं, विद्याधरान् - अनेकों विद्याओं के धारी हैं, चारणऋद्धि-प्राप्तान् - चारण ऋद्धि जिन्हें प्राप्त है, प्रज्ञाश्रितान् - प्रज्ञावान हैं, च - और, नित्यं

- सदा, ख-गामिनः - आकाश में गमन करने वाले हैं, गणेशान् अपि - ऐसे गणधर देवों को, तद् - उनके, गुणाप्त्यै - गुणों को प्राप्त करने के लिए, स्तुवे - उनके स्तुति करता हूँ।

भावार्थ : मिथ्यामार्ग को दूर करने में जो महा प्रभावशाली हैं, विक्रिया ऋद्धि, चारण ऋद्धि आदि अनेकों ऋद्धियों और विद्याओं के जो धारी हैं, प्रज्ञावान हैं और सदा आकाश में गमन करने वाले हैं - ऐसे उन गणधर देवों को उनके गुणों को प्राप्त करने के लिए उनकी स्तुति करता हूँ।

आशीर्विषान् दृष्टिविषान् मुनीन्द्रा-
नुग्राति दीप्तोत्तम तप्त-तप्तान्।
महातिघोर - प्रतपः प्रसक्तान्,
स्तुवे गणेशानपि तद् गुणाप्त्यै॥5॥

अन्वयार्थ : आशीर्विषान् - आशीविष, दृष्टिविषान् - दृष्टिविष ऋद्धि के धारक, मुनीन्द्रान् - मुनियों को, उग्राति - अत्यन्त उग्र, दीप्त उत्तम - उत्तम दीप्त तप, तप्ततप्तान् - घोर तप, महातिघोर - महा अतिघोर, प्रतपः - प्रकृष्ट तप के धारक, गणेशान् अपि - गणधर देवों की, तद् - उनके, गुणाप्त्यै - गुणों की प्राप्ति के लिए, स्तुवे - मैं स्तुति करता हूँ।

भावार्थ : जो आशीविष, दृष्टिविष ऋद्धि के धारक हैं, जो उग्र तप, दीप्त तप, घोर तप और अति घोर प्रकृष्ट तप से युक्त होने से यतियों-मुनियों में सर्वश्रेष्ठ हैं - ऐसे उन गणधर देवों के गुणों की प्राप्ति हेतु उनकी भाव पूर्वक स्तुति करता हूँ।

वन्द्यान् सुरैर्घोर-गुणांश्च लोके,
पूज्यान् बुधैर्घोर - पराक्रमांश्च।
घोरादि संसद् गुण ब्रह्मयुक्तान्,
स्तुवे गणेशानपि तद् गुणाप्त्यै॥6॥

अन्वयार्थ : सुरैः - देवों के द्वारा, वन्द्यान् - वन्दनीय, लोके पूज्यान् - लोक में पूजनीय, घोरगुणान् - घोर गुणों के धारक, च - और, बुधैः पूज्यान् - ज्ञानियों

के द्वारा पूजनीय, घोर पराक्रमान् - घोर पराक्रम धारक, घोरादि संसद् गुण - समीचीन श्रेष्ठ घोर गुण, ब्रह्मयुक्तान् - ब्रह्मचर्य आदि से युक्त, गणेशान् अपि - गणधर देवों की, तद् - उनके, गुणाप्त्यै - गुणों की प्राप्ति के लिए, स्तुवे - स्तुति करता हूँ।

भावार्थ : हे गणधर देव! आप महान गुणों के धारक हैं जिससे देवों के द्वारा वन्दनीय हैं, लोक में प्राणी मात्र के द्वारा पूजनीय हैं; विद्वानों, ज्ञानियों के द्वारा पूजनीय हैं। घोर पराक्रम के धारक हैं, समीचीन श्रेष्ठ घोर गुण रूप ब्रह्मचर्य आदि से युक्त हैं। इसलिए मैं आपके इन श्रेष्ठ गुणों की प्राप्ति हेतु आपकी स्तुति करता हूँ।

आमर्द्धि खेलर्द्धि प्रजल्ल विडर्द्धि,
सर्वर्द्धि प्राप्तांश्च व्यथादिहंत्रन्।
मनो वचः काय-बलोपयुक्तान्,
स्तुवे गणेशानपि तद् गुणाप्त्यै॥७॥

अन्वयार्थ : आमर्द्धि खेलर्द्धि - आमर्द्धि, खेलर्द्धि, प्रजल्ल विडर्द्धि - प्रकृष्ट, जल्ल ऋद्धि, विडर्द्धि, सर्वर्द्धिप्राप्तान् च - और सर्व ऋद्धि प्राप्त, व्यथादिहंत्रन् - पीड़ा आदि को हरने वाले, मनो वचः काय - मनोबल, वचन बल और काय बल, बलोपयुक्तान् - इन तीन ऋद्धि से युक्त, गणेशान् अपि - गणधर देवों की, तद् - उनके, गुणाप्त्यै - गुणों की प्राप्ति के लिए, स्तुवे - मैं स्तुति करता हूँ।

भावार्थ : जो सबके दुःखों को दूर करने वाले आमर्द्धि, खेलर्द्धि, जल्लर्द्धि, सर्वर्द्धि और मन, वचन, काय बल - इन तीन ऋद्धि से युक्त हैं - ऐसे उन गणधर देवों को उनके गुणों की प्राप्ति हेतु मैं उनकी स्तुति करता हूँ।

सत् क्षीरसर्पिर्मधुरामृतर्द्धिन्,
यतीन् वराक्षीण महानसांश्च।
प्रवर्धमानांस्त्रिजगत् प्रपूज्यमान्,
स्तुवे गणेशानपि तद् गुणाप्त्यै॥८॥

अन्वयार्थ : सत्क्षीरसर्पिर्मधुरामृतर्द्धिन् - समीचीन क्षीरसावी, सर्पिस्त्रावी,

मधुस्रावी, और अमृतस्रावी ऋद्धि के धारक, वराक्षीणमहानसान् च – अक्षीण महानस ऋद्धियों से, प्रवर्धमान – सुशोभित, त्रिजगत्प्रपूज्यान् – तीन लोक में पूज्य, यतीन् यतिराज, गणेशान् अपि – गणधरों की, तद् – उनके, गुणाप्त्यै – गुणों की प्राप्ति हेतु, स्तुवे – स्तुति करता हूँ।

भावार्थ : जो समीचीन क्षीरस्रावी, सर्पिःस्रावी, मधुस्रावी और अमृतस्रावी ऋद्धि के धारक हैं, श्रेष्ठ अक्षीण संवास और अक्षीण महानस ऋद्धियों से सुशोभित हैं, तीनों लोकों में पूज्य हैं – ऐसे यतिराज गणधर देवों की, उनके गुणों की प्राप्ति हेतु मैं उनकी स्तुति करता हूँ।

सिद्धालयान् श्री महितोऽतिवीरान्,
श्री वर्धमानर्द्धि विबुद्धि-दक्षान्।
सर्वान् मुनीन् मुक्तिवरानृषीन्द्रान्,
स्तुवे गणेशानपि तद् गुणाप्त्यै॥9॥

अन्वयार्थ : सिद्धालयान् – सिद्धालय में विराजमान, श्री महतः अतिवीरान् – श्री अति महान अतिवीर, श्री वर्धमान – श्री वर्धमान ऋद्धि और, ऋद्धिविबुद्धिदक्षान् – विशिष्ट बुद्धि ऋद्धि में दक्ष, मुक्तिवरान् – मुक्तिलक्ष्मी को वरण करने वाले, सर्वान् मुनीन् – सब मुनियों की, ऋषीन्द्रान् – ऋषिगणों को, गणेशान् अपि – तथा गणधर देवों की, तद् – मैं उनके, गुणाप्त्यै – गुणों की प्राप्ति हेतु, स्तुवे – स्तुति करता हूँ।

भावार्थ : जो सिद्धालय को प्राप्त वर्द्धमान ऋद्धि से युक्त हैं और विशिष्ट बुद्धि ऋद्धि में दक्ष हैं, मुक्ति-लक्ष्मी का वरण करने वाले हैं; उन सभी मुनियों, ऋषिगणों और गणधर देवों की उनके गुणों की प्राप्ति हेतु मैं उनकी स्तुति करता हूँ।

नृ-सुरखचर सेव्या विश्वश्रेष्ठर्द्धि भूषा
विविध-गुणसमुद्रा मार-मातंग-सिंहाः
भवजलनिधि-पोता वन्दिता मे दिशन्तु
मुनिगणसकलाः श्रीसिद्धिदाः सदृषीन्द्राः॥10॥

अन्वयार्थ : नृ-सुर-खचर-सेव्या – मनुष्य, देव, विद्याधरों से पूज्य, विश्व

श्रेष्ठर्द्धिभूषा - सम्पूर्ण श्रेष्ठ ऋद्धियों से भूषित, विविधगुणसमुद्रा - अनेक गुणों के समुद्र, मारमातंगसिंहाः - कामदेवरूपी हाथी को वश में करने के लिए सिंह के समान, भव-जलनिधिपोता - संसाररूप समुद्र को पार करने के लिए जहाज, सदृशा - समान, वन्दिता - वन्दन किये गये, मुनिगण-सकलाः इन्द्रा - समस्त मुनिसंघ के इन्द्र गणधर देव, मे सिद्धिदाः दिशन्तु - मुझे सिद्धपद प्रदान करने करने वाले हों।

भावार्थ : जो मनुष्य, देव तथा विद्याधरों से पूज्य हैं, सभी श्रेष्ठ ऋद्धियों से युक्त हैं, गुणों के समुद्र हैं, कामदेव रूपी हाथी को वश में करने के लिए सिंह के समान हैं, संसार-समुद्र को पार करने के लिए जहाज के अर्थात् नौका के समान हैं, जो समस्त मुनि संघ के श्रेष्ठ नायक हैं - ऐसे गणधर स्वामी की मैं वन्दना करता हूँ। वे मुझे सिद्ध पद प्रदान करें।

नित्यं यो गणभृन्मन्त्रविशुद्धसन् जपत्यमुम्,
आस्रवस्तस्य पुण्यानां निर्जरा पापकर्मणाम्।
नश्यादुपद्रवकश्चिद् व्याधिभूतविषादिभिः
सदसत् वीक्षणे स्वप्ने समाधिश्च भवेन्मृतो॥११॥

अन्वयार्थ : यः - जो, नित्यं - प्रतिदिन, विशुद्धः सन् - विशुद्ध मन होता हुआ, अमुम् - इस, गणभृन्मन्त्रं - गणधर वलय मन्त्र को, जपति - पढ़ता है, तस्य - उसको, पुण्यानां आस्रवः - पुण्य कर्मों का आस्रव होता है, पापकर्मणां निर्जरा - पाप कर्मों की निर्जरा होती है, विषादिभिः व्याधिभूत - विष आदि से होने वाले रोग-पिशाच, उपद्रवः - बाधा, नश्यात् - दूर होते हैं, स्वप्ने सत् असत् - स्वप्न में शुभ-अशुभ, वीक्षणे - दिखाई देता है, च - और, मृतौ - मरण समय में, समाधिः - समाधिमरण भवेत् - होता है।

भावार्थ : जो प्रतिदिन विशुद्ध मन होता हुआ पूर्ण शुद्धि के साथ इस गणधर वलय मन्त्र का पाठ करता है, उसे पुण्य कर्मों का आस्रव होता है और पाप कर्मों की निर्जरा होती है, विष आदि से होने वाले अत्यन्त भयंकर रोग, पिशाच आदि की बाधा दूर हो जाती है। स्वप्न के द्वारा शुभ अशुभ होने का उसे संकेत हो जाता है और उसका सम्यक् समाधिमरण होता है।

णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्व साहूणं

1. णमो जिणाणं जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार हो
2. णमो ओहि जिणाणं अवधि जिनों को नमस्कार हो
3. णमो परमोहि जिणाणं परमावधि जिनों को नमस्कार हो
4. णमो सव्वोहि जिणाणं सर्वावधि जिनों को नमस्कार हो
5. णमो अणंतोहि जिणाणं अनन्तावधि जिनों को नमस्कार हो
6. णमो कोट्ठबुद्धीणं कोष्ठ बुद्धि धारक जिनों को नमस्कार हो
7. णमो बीजबुद्धीणं बीज बुद्धि धारक जिनों को नमस्कार हो
8. णमो पदाणुसरीणं पदानुसारी ऋद्धि धारक जिनों को नमस्कार हो
9. णमो संभिण्ण सोदारणं संभिन्नश्रोतृ जिनों को नमस्कार हो
10. णमो सयं बुद्धाणं स्वयंबुद्ध जिनों को नमस्कार हो
11. णमो पत्तेय बुद्धाणं प्रत्येकबुद्ध जिनों को नमस्कार हो
12. णमो बोहिय बुद्धाणं बोधितबुद्ध जिनों को नमस्कार हो
13. णमो उजुमदीणं ऋजुमति-मनःपर्ययज्ञानियों को नमस्कार हो
14. णमो विउलमदीणं विपुलमति-मनःपर्ययज्ञानियों को नमस्कार हो
15. णमो दस पुव्वीणं दस पूर्वधारी जिनों को नमस्कार हो
16. णमो चउदसपुव्वीणं चौदह पूर्वधारी जिनों को नमस्कार हो
17. णमो अट्ठंगमहाणिमित्त कुशलाणं अष्टांग महानिमित्त में कुशल जिनों को नमस्कार हो
18. णमो विउव्वइड्ढि पत्ताणं विक्रिया ऋद्धिधारी जिनों को नमस्कार हो
19. णमो विज्जाहराणं विद्याधर जिनों को नमस्कार हो
20. णमो चारणाणं चारणऋद्धि धारी जिनों को नमस्कार हो
21. णमो पण्णसमणाणं प्रज्ञा श्रमण जिनों को नमस्कार हो
22. णमो आगासगामीणं आकाशगामी जिनों को नमस्कार हो
23. णमो आसीविसाणं आशीर्विष जिनों को नमस्कार हो

- | | |
|-----------------------------------------------|----------------------------------------|
| 24. णमो दिट्ठिविसाणं | दृष्टिविष जिनो को नमस्कार हो |
| 25. णमो उगगतवाणं | उग्र तप धारक जिनो को नमस्कार हो |
| 26. णमो दित्त तवाणं | दीप्त तप धारक जिनो को नमस्कार हो |
| 27. णमो तत्त तवाणं | तप्त तप धारक जिनो को नमस्कार हो |
| 28. णमो महा तवाण | महा तप धारक जिनो को नमस्कार हो |
| 29. णमो घोर तवाणं | घोर तपधारी ऋद्धि जिनो को नमस्कार हो |
| 30. णमो घोर गुणाणं | घोर गुण जिनो को नमस्कार हो |
| 31. णमो घोर परक्कमाणं | घोर पराक्रम ऋद्धि जिनो को नमस्कार हो |
| 32. णमो घोर गुणबंभयारीणं | अघोर गुण ब्रह्मचारी जिनो को नमस्कार हो |
| 33. णमो आमोसहि पत्ताणं | आमषोधि जिनो को नमस्कार हो |
| 34. णमो खेल्लोसहि पत्ताणं | खेल्लौषधि जिनो को नमस्कार हो |
| 35. णमो जल्लोसहि पत्ताणं | जल्लौषधि जिनो को नमस्कार हो |
| 36. णमो विप्पोसहि पत्ताणं | वीर्यौषधि जिनो को नमस्कार हो |
| 37. णमो सव्वोसहि पत्ताणं | सर्वौषधि जिनो को नमस्कार हो |
| 38. णमो मणबलीणं | मनोबल ऋद्धियुक्त जिनो को नमस्कार हो |
| 39. णमो वचिबलीणं | वचनबल ऋद्धियुक्त जिनो को नमस्कार हो |
| 40. णमो कायबलीणं | कायबल ऋद्धियुक्त जिनो को नमस्कार हो |
| 41. णमो खीरसवीणं | क्षीरस्रावी जिनो को नमस्कार हो |
| 42. णमो सप्पि सवीणं | सर्पिस्रावी जिनो को नमस्कार हो |
| 43. णमो महुर सवीणं | मधुस्रावी जिनो को नमस्कार हो |
| 44. णमो अमियसवीणं | अमृतस्रावी जिनो को नमस्कार हो |
| 45. णमो अक्खीण महाणसाणं | अक्षीण महानस जिनो को नमस्कार हो |
| 46. णमो वड्ढमाणणं | वर्द्धमान जिन को नमस्कार हो |
| 47. णमो सिद्धायदणाणं | लोक में सब सिद्धायतनो को नमस्कार हो |
| 48. णमो भयवदो महदि महावीर वड्ढमाणबुद्धिरिसीणं | |
- ऋषि बुद्ध वर्धमान, महावीर, महति महावीर जिन को नमस्कार हो।

11. श्री सरस्वतीस्तोत्रम्

चन्द्रार्ककोटि-घटितोज्ज्वलदिव्यमूर्ते,
श्री चन्द्रिकाकलित-निर्मल शुभ्रवस्त्रे।
कामार्थदायि कलहंस-समाधिरूढे,
वागीश्वरी प्रतिदिनं मम रक्ष देवि॥1॥

अन्वयार्थ : कोटि - करोड़ों, चन्द्रार्क - चन्द्रमा और सूर्यों से, घटितोज्ज्वल - एकत्रित शुभ्र तेज युक्त, चन्द्रिका - चन्द्र किरण से, कलित - सुसज्जित, निर्मल - अत्यन्त स्वच्छ, शुभ्रवस्त्रे - श्वेत धवल वस्त्र, कामार्थदायि - सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाली कलहंस राजहंस पक्षी पर समाधिरूढे - आरूढ़ (बैठी हुई), दिव्यमूर्ते - दिव्य मूर्ति स्वरूप, श्री - श्री, वागीश्वरी - सरस्वती, देवि! - हे देवी! प्रतिदिनं - प्रतिदिन, मम - मेरी, रक्ष - रक्षा करें।

भावार्थ : जो करोड़ों सूर्य और चन्द्रमा के एकत्रित शुभ्र तेज से भी अधिक तेज को धारण करने वाली है, चन्द्रमा की किरणों के समान अत्यन्त स्वच्छ एवं श्वेत (सफेद) वस्त्र को धारण करने वाली है, सकल (सम्पूर्ण) मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाली है तथा राजहंस पक्षी पर आरूढ़ है - ऐसी दिव्यमूर्ति स्वरूप श्री सरस्वती देवी प्रतिदिन हमारी रक्षा करें।

देवासुरेन्द्र-नत मौलिमणि प्ररोचि,
श्री मञ्जरीनिबिड रंजित पाद-पद्मे।
नीलालके प्रमदहस्ति समानयाने,
वागीश्वरी प्रतिदिनं मम रक्ष देवि॥2॥

अन्वयार्थ : देवासुरेन्द्र - देवों और असुरों के इन्द्रों के, नत - नमस्कार हेतु झुके हुए, मौलि - मुकुटों की, मणि - मणियों को, प्ररोचि - प्रकाशित करने वाली है, मञ्जरी निबिड - कमल पुष्प के घने गुच्छों से, रंजित - सुशोभित हैं, पादपद्मे - चरण-कमल जिनके, नीलालके - गहरे काले बालों वाली, प्रमदहस्ति - मदोन्मत्त हाथी के, समानयाने - समान मन्द गति वाली, श्री वागीश्वरी - श्री सरस्वती, देवि

देवी, प्रतिदिनं - प्रतिदिन, मम - मेरी, रक्ष - रक्षा करें।

भावार्थ : जिनके चरण-कमलों में देवेन्द्र नत-मस्तक हैं। उन देवों के मुकुटों में लगे हुए बहुमूल्य रत्न जिनके चरणों की आभा से सुशोभित होते हैं। जिनके केश नीलवर्ण हैं तथा जिनकी गति मदोन्मत्त हाथी के समान मन्द है - ऐसी श्री सरस्वती देवी सदा ही हमारी रक्षा करें।

केयूरहारमणि कुण्डलमुद्रिकाद्यैः
सर्वांगभूषण नरेन्द्र - मुनीन्द्र - वन्द्ये।
नानासुरत्न - वर - निर्मल-मौलियुक्ते,
वागीश्वरी प्रतिदिनं मम रक्ष देवि॥3॥

अन्वयार्थ : केयूर - भुजबंध, हार - कण्ठमाला, मणिकुण्डल - मणियों जड़ित कर्णाभूषण, मुद्रिकाद्यैः - अँगूठी आदि आभूषणों से, सर्वांगभूषण - सभी अंग अलंकृत हैं, नरेन्द्र - राजाओं से, मुनीन्द्र - मुनियों से, वन्द्ये - वन्दनीय हैं, नाना - अनेक, सुरत्न-वर - सुन्दर और श्रेष्ठ रत्नों से, निर्मल - अत्यन्त स्वच्छ, मौलियुक्ते - मुकुट से युक्त हैं जो, वागीश्वरी - ऐसी सरस्वती, देवि - हे देवी! प्रतिदिनं - नित्य ही, मम - मेरी, रक्ष - रक्षा करें।

भावार्थ : जिनके सर्वांग भुजबंध, कण्ठमाला, मणियों जड़ित कुण्डल, अँगूठी आदि आभूषणों से अलंकृत हैं। जो राजाओं एवं मुनिराजों द्वारा वन्दनीय हैं और जिनका मुख-मण्डल अनेक प्रकार के सुन्दर और श्रेष्ठ रत्नों से युक्त मुकुट से सुशोभित हो रहा है - ऐसी सरस्वती देवी सदा मेरी रक्षा करें।

मंजीरकोत्कनक-कंकण-किंकणीनां,
कांच्याश्च झंकृतरवेण विराजमाने।
सद्भूर्मवारि-निधि-सन्तति वर्धमाने,
वागीश्वरी प्रतिदिनं मम रक्ष देवि॥4॥

अन्वयार्थ : उत्कनक - जो स्वर्ण निर्मित, मंजीरक - नूपुर, कंकण - कंगन और, किंकणीनां - घुँघरूदार, कांच्याश्च - करधनी, झंकृतरवेण - झंकार करती

हुई, विराजमाने – शोभायमान हैं, सद्धर्म – सच्चे धर्मरूप, वारिनिधिसन्तति – समुद्र को, वर्धमाने – बढ़ाने वाली हैं, वागीश्वरी – ऐसी सरस्वती, देवि – देवी, प्रतिदिनं – नित्य ही, मम – मेरी, रक्ष – रक्षा करें।

भावार्थ : जो स्वर्ण से निर्मित सुन्दर नूपुर और बिछुड़ी से, कंगन, कमर में बँधी हुई घुँघरूदार करधनी से झंकार करती हुई शोभायमान हो रही हैं। जो जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रतिपादित सर्वोत्कृष्ट अहिंसा धर्मरूपी समुद्र को अहर्निश वृद्धिगत करने वाली हैं। ऐसी हे माँ सरस्वती! आप हम सभी की सदा ही रक्षा करें।

कंकेलि पल्लव विनिन्दित-पाणियुग्मे,
पद्मासने दिवस-पद्मसमान-वक्त्रे।
जैनेन्द्र-वक्त्र भव दिव्य-समस्त-भाषे,
वागीश्वरी प्रतिदिनं मम रक्ष देवि॥5॥

अन्वयार्थ : पाणियुग्मे – जिनके कर-कमलों ने, कंकेलि – अशोक वृक्ष के, पल्लव – नवीन सुकोमल पत्तों को, विनिन्दित – तिरस्कृत कर दिया है, पद्मासने – ऐसा कमलासन है जिनका, दिवस-पद्मासने – दिन के कमल के समान सुन्दर, वक्त्रे – मुख है जिनका, जैनेन्द्र – जिनेन्द्र भगवान के, वक्त्र भव – सुमुख से उत्पन्न, दिव्य – अलौकिक, समस्त-भाषे – सर्वभाषामय, वागीश्वरी – सरस्वती, देवि – देवी, प्रतिदिनं – नित्य ही, मम – मेरी, रक्ष – रक्षा करें।

भावार्थ : जिन्होंने अपने अत्यन्त कोमल कर-कमलों से अशोक वृक्ष के कोमल पत्तों को भी तिरस्कृत कर दिया है, जो कमल के आसन पर शोभायमान हैं, जिनका मुख-मण्डल दिन में विकसित होने वाले कोमल कमल के समान अत्यन्त सुन्दर है और जो जिनेन्द्र भगवान के मुख से उत्पन्न अलौकिक सर्वभाषामय अर्थात् 18 महाभाषा और 700 लघु भाषा स्वरूप जिनवाणी रूप में प्रकट हुई है – ऐसी हे सरस्वती देवी! आप सदा ही मेरी रक्षा करें।

अर्द्धेन्दुमण्डित-जटा – ललितस्वरूपे,
शास्त्रप्रकाशिनि समस्त-कलाधिनाथे।

चिन्मुद्रिका जपसराभय-पुस्तकांके,
वागीश्वरी प्रतिदिनं मम रक्ष देवि॥6॥

अन्वयार्थ : अर्द्धेन्दु - अर्द्धचन्द्र से, मण्डित - सुशोभित, जटा - जटाओं के कारण, ललितस्वरूपे - अत्यन्त मनोहर रूप है जिनका, शास्त्र-प्रकाशिनि - सम्पूर्ण शास्त्रों का प्रकाश करने वाली, समस्त - सम्पूर्ण, कलाधिनाथे - कलाओं की स्वामिनी, चिन्मुद्रिका - चैतन्य मुद्रा को धारण करने वाली, जप - जपमाला, सराभय - अभयदान और, पुस्तकांके - अंक में पुस्तक धारण करने वाली, वागीश्वरी - वागीश्वरी, देवि - देवी, प्रतिदिनं - नित्य ही, मम - मेरी, रक्ष - रक्षा करें।

भावार्थ : अर्द्धचन्द्र से विभूषित सुन्दर केशों के संयोग से जिनका स्वरूप अत्यन्त मनोहर है, जो सम्पूर्ण शास्त्रों का प्रकाशन करने वाली हैं, जो समस्त कलाओं की स्वामिनी हैं और चैतन्य मुद्रा अर्थात् ज्ञान समुद्र, जपमाला, अभयदान तथा पुस्तक (आगम) ही जिनके लक्षण हैं - ऐसी श्री सरस्वती देवी सदा मेरी रक्षा करें।

डिण्डीरपिण्ड हिमशंख-सिताभ्रहारे,
पूर्णेन्दु-बिम्बरुचि-शोभितदिव्यगात्रे।
चांचल्यमान-मृगशावललाट नेत्रे,
वागीश्वरी प्रतिदिनं मम रक्ष देवि॥7॥

अन्वयार्थ : डिण्डीरपिण्ड - समुद्र फेन, हिम - बर्फ, शंख - शंख, सिताभ्रहारे - सफेद आकाश के समान हार है जिनका, दिव्यगात्रे - जिनकी दिव्य देह, पूर्णेन्दु - पूर्ण चन्द्र के, बिम्ब - आकार के समान, रुचि - द्युतिमान, शोभित - शोभायमान है, चांचल्यमान - अत्यन्त चंचल, मृग-शाव - हिरण के बच्चे के समान, ललाटनेत्रे - मस्तिष्क पर स्थित हैं नेत्र जिनके, वागीश्वरी - ऐसी सरस्वती, देवि - देवी, प्रतिदिनं - नित्य ही, मम - मेरी, रक्ष - रक्षा करें।

भावार्थ : समुद्र के फेन, शंख अथवा बर्फ के समान अथवा श्वभ्र आकाश के समान अत्यन्त धवल हार जिनके कण्ठ में हैं। जिनकी देह पूर्णिमा के चन्द्रबिम्ब की कान्ति के समान अत्यन्त सुशोभित हैं तथा जिनके नेत्र हिरणी के छोटे-छोटे बच्चों के समान

अत्यन्त चंचल हैं - ऐसी हे सरस्वती देवी! आप नित्य ही हमारी रक्षा करें।

पूज्ये पवित्र-करणोन्नत-कामरूपे,
नित्यं फणीन्द्र गरुडाधिप-किन्नरेन्द्रैः।
विद्याधरेन्द्र सुर-यक्ष-समस्त-वृन्दैः,
वागीश्वरी प्रतिदिनं मम रक्ष देवि॥४॥

अन्वयार्थ : पवित्रकरण - जो सभी को पवित्र करने वाली, उन्नतकामरूपे - उन्नत काम स्वरूप, नित्यं - हमेशा, फणीन्द्र - सर्पराजों, गरुडाधिप - गरुड़राजों, किन्नरेन्द्रैः - किन्नरों (व्यन्तरों), विद्याधरेन्द्र - विद्याधरों के इन्द्र, सुर - देवों, यक्ष - यक्षों, समस्तवृन्दैः - आदि सभी के द्वारा, पूज्ये - पूजित, वागीश्वरि - ऐसी सरस्वती देवी, प्रतिदिनं - नित्य ही, मम - मेरी, रक्ष - रक्षा करें।

भावार्थ : जो प्राणीमात्र को पवित्र करने वाली उन्नत काम स्वरूप है। जो नागराज, गरुड़राज, किन्नरेन्द्र, विद्याधर देवेन्द्र, यक्षेन्द्र आदि समस्त देव समूह से सदा ही पूजनीय, वन्दनीय हैं - ऐसी ही सरस्वती देवी सदा ही हमारी रक्षा करें।

॥ इति श्री सरस्वतीस्तोत्रम् ॥

12. श्री सरस्वतीनामस्तोत्रम्

सरस्वत्याः प्रसादेन, काव्यं कुर्वन्ति मानवाः।

तस्मान्निश्चल भावेन पूजनीया सरस्वती॥1॥

अन्वयार्थ : सरस्वत्याः - सरस्वती की, प्रसादेन - कृपा से, मानवाः - मनुष्य, काव्यं - कविता की, कुर्वन्ति - रचना कर पाते हैं, तस्मात् - इसलिए, निश्चल - अटल, भावेन - भक्तिभाव से, सरस्वती - श्री सरस्वती माँ की, पूजनीया - पूजा करनी चाहिए।

भावार्थ : श्री सरस्वती माता के अनुग्रह से ही विद्वान जन काव्य रचना में कुशल होते हैं। इसलिये अटल भक्तिभाव से सरस्वती माँ की पूजा करनी चाहिए।

श्री सर्वज्ञमुखोत्पन्ना, भारती बहुभाषिणी।

अज्ञानतिमिरं हन्ति विद्या बहुविकासिनी॥2॥

अन्वयार्थ : श्री - लक्ष्मी से विभूषित, सर्वज्ञ - अरहन्त भगवान के, मुखोत्पन्ना - मुख से उत्पन्न, बहुभाषिणी - अनेक भाषारूप, विद्या बहु - अनेक विद्याओं का, विकासिनी - विकास करने वाली, भारती - सरस्वती माता, अज्ञानतिमिरं - अज्ञानरूपी अन्धकार को, हन्ति - नाश करती है।

भावार्थ : अन्तरंग (अनन्त चतुष्टय) और बहिरंग (समवशरण) लक्ष्मी से युक्त अरहन्त भगवान के मुख से जो उत्पन्न हुई है, जो अनेक अर्थात् 18 महाभाषा और 700 लघु भाषा रूप है, जो अनेकों विद्याओं का विकास करने वाली है।

सरस्वतीमया दृष्टा दिव्या कमल-लोचना।

हंसस्कन्ध-समारूढा वीणा-पुस्तकधारिणी॥3॥

अन्वयार्थ : मया - मैंने, दिव्य - अत्यन्त भव्य (अलौकिक), कमललोचना - कमल के समान नेत्रों वाली, हंसस्कन्ध - हंस के कन्धों पर, समारूढा - विराजित, वीणा - वीणा (वाद्य यन्त्र), पुस्तक - पुस्तक को, धारिणी - धारण करने वाली सरस्वती - सरस्वती देवी के दृष्टा - दर्शन किये हैं।

भावार्थ : जिसके नेत्र अलौकिक कमल के समान अत्यन्त सुन्दर हैं, जो पक्षीराज हंस के कन्धों पर सुशोभित हैं, वीणा और पुस्तक (आगम) को अपने कोमल कर-कमलों में धारण करने वाली हैं - ऐसी सरस्वती माँ का हमने दर्शन किया है।

प्रथमं भारती नाम द्वितीयं च सरस्वती।

तृतीयं शारदा देवी चतुर्थं हंसगामिनी॥4॥

अन्वयार्थ : प्रथम - सरस्वती माता का पहला, नाम - नाम, भारती - भारती है, द्वितीयं - दूसरा नाम, सरस्वती - सरस्वती है, तृतीयं - तीसरा नाम, शारदादेवी - शारदा देवी है और, चतुर्थं - चौथा नाम, हंसगामिनी - हंसगामिनी है।

भावार्थ : सरस्वती देवी के अनेक नाम हैं। जिनमें से पहला नाम भारती है, दूसरा नाम सरस्वती है, तीसरा नाम शारदा देवी है और चौथा नाम हंसगामिनी है।

पंचमं विदुषां माता षष्ठं वागीश्वरी तथा।

कुमारी सप्तमं प्रोक्तं अष्टमं ब्रह्मचारिणी॥5॥

अन्वयार्थ : पंचमं - पाँचवाँ नाम, विदुषां माता - विद्वानों की माँ है, षष्ठं - छठवाँ नाम, वागीश्वरी - वागीश्वरी है, सप्तमं - सातवाँ नाम, कुमारी - कुमारी है, अष्टमं आठवाँ नाम, ब्रह्मचारिणी - ब्रह्मचारिणी प्रोक्तं - ऐसा कहा गया है।

भावार्थ : सरस्वती माता का पाँचवाँ नाम विद्वानों की माँ कहा गया है, छठवाँ नाम वागीश्वरी है, सातवाँ नाम कुमारी है और आठवाँ नाम ब्रह्मचारिणी कहा गया है।

नवमं च जगन्माता दशमं ब्राह्मणी तथा।

एकादशं तु ब्राह्मणी द्वादशं वरदा भवेत्॥6॥

अन्वयार्थ : नवमं - और नौवाँ नाम, जगन्माता - जगन्माता है, दशमं - दसवाँ नाम, ब्राह्मणी - ब्राह्मणी है, एकादशं - ग्यारहवाँ नाम, ब्राह्मणी - ब्राह्मणी है, द्वादशं - बारहवाँ नाम, वरदा - वरदा, भवेत् - है।

भावार्थ : सरस्वती देवी का नौवाँ नाम जगन्माता है, दसवाँ नाम ब्राह्मणी है, ग्यारहवाँ नाम ब्रह्मणी है और बारहवाँ नाम वरदा है।

वाणी त्रयोदशं नाम भाषा चैव चतुर्दशम्।

पंचदशं च श्रुतदेवी षोडशं गौर्निगद्यते॥7॥

अन्वयार्थ : त्रयोदशं - तेरहवाँ, नाम - नाम, वाणी - वाणी है, चैव - और, चतुर्दशम् - चौदहवाँ, नाम - नाम, भाषा - भाषा है, पञ्चदशं - पन्द्रहवाँ नाम, श्रुतदेवी - श्रुतदेवी है, च - और, षोडशं - सोलहवाँ नाम, गौः - गौ, निगद्यते - कहा जाता है।

भावार्थ : सरस्वती देवी का तेरहवाँ नाम वाणी है, चौदहवाँ नाम भाषा है, पन्द्रहवाँ नाम श्रुतदेवी और सोलहवाँ नाम गौ कहा जाता है।

एतानि श्रुतनामानि प्रातरुत्थाय यः पठेत्।

तस्य संतुष्यति माता शारदा वरदा भवेत्॥४॥

अन्वयार्थ : यः - जो, प्रातःकाल - प्रातःकाल, उत्थाय - उठकर, एतानि - ऊपर कहे गये, श्रुतनामानि - सरस्वती देवी के नामों को, पठेत् - पढ़ता है, तस्य - उस पर, शारदा - सरस्वती, माता - माता, संतुष्यति - प्रसन्न होती है और, वरदा - वरदान देने वाली, भवेत् - होती है।

भावार्थ : जो भव्य जीव सुबह उठकर सरस्वती देवी के इन नामों को भक्तिभाव से पढ़ता है सरस्वती देवी उस पर प्रसन्न होती है और उसे वरदान देने वाली होती है।

सरस्वती नमस्तुभ्यं वरदे काम-रूपिणी।

विद्यारम्भं करिष्यामि सिद्धिर्भवतु मे सदा॥९॥

अन्वयार्थ : वरदे - हे वरदायिनी!, कामरूपिणी - इच्छाओं को पूर्ण करने वाली, सरस्वती - हे सरस्वती माता! तुभ्यम् - आपके लिए, नमः - नमस्कार हो (मैं), विद्यारम्भम् - विद्या का आरम्भ कर रहा हूँ, मे - मेरे लिए, सदा - नित्य ही, सिद्धिः - सिद्धि, भवतु - प्राप्त हो।

भावार्थ : हे सरस्वती माता! आप वरदायिनी हैं, सम्पूर्ण इच्छाओं को पूर्ण करने वाली हैं। आपके लिए नमस्कार हो। आपकी कृपा से मैं विद्या का आरम्भ कर रहा हूँ। मुझे सदा विद्या की सिद्धि हो।

॥ इति श्री सरस्वतीनामस्तोत्रम्॥

13. श्री वीतरागस्तोत्रम्

वीतरागता को नमस्कार हो

शिवं शुद्ध-बुद्धं परं विश्वनाथं,
न देवो न बन्धुर्न कर्मा न कर्ता।
न अंगं न संगं न स्वेच्छा न कायं,
चिदानन्द-रूपं नमो वीतरागम्॥1॥

अन्वयार्थः (मैं शुद्धात्मा) न देवो – न देव, न बन्धुः – न किसी का बन्धु, न कर्मा – न कर्म, न कर्ता – न कर्ता (कर्म करने वाला), न अंगं – न अंग (मेरे अवयव नहीं है), न संगं – न मेरे परिग्रह है, न स्वेच्छा – न मेरी कोई इच्छा है, न कायं – न शरीर रूप हूँ (मैं तो), शिवं – परमानन्द रूप, शुद्धबुद्धं – शुद्ध और बुद्ध (ज्ञान स्वरूप), परं – उत्कृष्ट, विश्वनाथं – तीनों लोकों के नाथ, चिदानन्दरूपं – चैतन्य के आनन्द स्वरूप, वीतराग – देव अर्थात् अठारह दोषों से रहित परमात्मा – को, नमः – नमस्कार करता हूँ।

भावार्थः मैं शुद्धात्मा अर्थात् मेरी आत्मा न देवरूप है, न भाई-बन्धुरूप है, न कर्ता है, न कर्म है, न खण्ड रूप है, न ही परिग्रह रूप है, न इसकी कोई इच्छा है। मेरी आत्मा शरीर रहित अशरीरी है। मोक्ष स्वरूप सम्पूर्ण कर्मों से रहित परम शुद्ध है, अनन्तज्ञान स्वरूप बुद्ध है, तीनों लोकों का अधिपति होने से सर्वोत्कृष्ट है। ऐसी शुद्धात्मा के आनन्द स्वरूप वीतरागता को मैं नमस्कार करता हूँ।

न बंधो न मोक्षो न रागादि दोषः,
न योगं न भोगं न व्याधिर्न शोकम्।
न कोपं न मानं न माया न लोभः,
चिदानन्द-रूपं नमो वीतरागम्॥2॥

अन्वयार्थः (यह शुद्धात्मा) बन्धः न – बन्धरूप नहीं, मोक्षो न – मोक्ष रूप नहीं, रागादि दोषः न – रागादि दोष रूप नहीं, योगं न – योग रूप नहीं, भोगं न – भोगरूप नहीं, व्याधिः न – व्याधिरूप नहीं, शोकं न – शोक रूप नहीं, कोपं न – क्रोध रूप नहीं, मानं

न – मान रूप नहीं, माया न – माया रूप नहीं, लोभः न – लोभ रूप नहीं, चिदानन्दरूपं – चैतन्य के आनन्द स्वरूप, वीतरागम् – वीतराग परमात्मा को, नमः – नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ : मेरा यह आत्मा-बन्ध, मोक्ष, राग, द्वेष, मोह, लोभ, मन, वचन, काया, भोग, व्याधि, शोक, क्रोध, मान, माया तथा स्वरूप नहीं है। मेरी आत्मा के आनन्द स्वरूप वीतरागता को मैं नमस्कार करता हूँ।

न हस्तौ न पादौ न घ्राणं न जिह्वा,
न चक्षुर्न कर्णं न वक्त्रं न निद्रा।
न स्वामी न भृत्यः न देवो न मर्त्यः,
चिदानन्द-रूपं नमो वीतरागम्॥3॥

अन्वयार्थ : (यह आत्मा) हस्तौ न – हाथ रूप नहीं, पादौ न – पैर रूप नहीं, घ्राणं न – घ्राण रूप नहीं, जिह्वा न – जीभ रूप नहीं, चक्षुः न – आँख रूप नहीं, कर्णं न – कर्ण रूप नहीं, वक्त्रं न – मुख रूप नहीं, निद्रा न – निद्रा रूप नहीं, स्वामी न – स्वामी रूप नहीं, भृत्यः न – नौकर रूप नहीं, देवः न – देवरूप नहीं, मर्त्यः न – मनुष्य रूप नहीं, चिदानन्दरूपम् – चैतन्य के आनन्द स्वरूप, वीतरागम् – वीतरागता को, नमः – नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ : मेरी शुद्धात्मा हाथ, पैर, नाक, जीभ, नेत्र, कर्ण, मुख, निद्रा रूप न ही है और न ही मेरी आत्मा देव है, न मनुष्य है, न स्वामी है, न नौकर है। ऐसी आत्मा के वीतराग भाव को मैं नमस्कार करता हूँ।

न जन्म न मृत्युः न मोहं न चिन्ता,
न क्षुद्रो न भीतो न काश्यं न तन्द्रा।
न स्वेदं न खेदं न वर्णं न मुद्रा,
चिदानन्द-रूपं नमो वीतरागम्॥4॥

अन्वयार्थ : (आत्मा का) जन्म न, मृत्युः न – जन्म-मरण नहीं होता, मोहः न चिन्ता न – वह मोह एवं चिन्ता से रहित है, क्षुद्रो न – क्षुद्ररूप नहीं है, भीतो न – भयभीत

रूप नहीं, काश्यप न – खाँसी नहीं, तन्द्रा न – प्रमादरूप नहीं, स्वेदं न – पसीना रूप नहीं है, खेदं न – दुःख रूप नहीं है, वर्णं न मुद्रा न – रंग एवं आकार रूप नहीं है, चिदानन्दरूपम् – चैतन्य के आनन्द स्वरूप, वीतरागम् – वीतरागता को, नमः – नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ : आत्मा का जन्म-मरण नहीं होता, वह मोह चिंता से दूर है। मेरी यह आत्मा क्षुधा, भयभीत, खाँसी, प्रमाद, पसीना या दुःख रूप नहीं है। आत्मा का रंग व आकार नहीं है – ऐसी आत्मा के आनन्द स्वरूप वीतरागता को मैं नमस्कार करता हूँ।

त्रिदण्डे त्रिखण्डे हरे विश्वनाथं,
हृषीकेशविध्वस्त-कर्मादिजालम्।
न पुण्यं न पापं न चाक्षादि गात्रं,
चिदानन्द-रूपं नमो वीतरागम्॥5॥

अन्वयार्थ : (यह मेरी आत्मा) त्रिदण्डे – तीन दण्ड का धारी, त्रिखण्डे हरे – तीन खण्ड का अधिपति नारायण, विश्वनाथं – विश्व का स्वामी, हृषीकेश – ऋषिकेश, विध्वस्तकर्मादि-जालं – कर्म के समूह को नाश करने वाले, पुण्यं न पापं न च अक्षादिगात्रं न – पुण्य पाप तथा नेत्रादि शरीर स्वरूप नहीं है, चिदानन्दरूपम् – चैतन्य के आनन्द स्वरूप, वीतरागम् – वीतरागता को, नमः – नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ : मेरी आत्मा रत्नत्रय रूप दण्ड की धारी, तीन खण्ड का अधिपति नारायण, विश्व का स्वामी, कर्म के समूह को नाश करने वाले ऋषिकेश, पुण्य, पाप, नेत्रादि शरीर स्वरूप नहीं है। ऐसी आत्मा के आनन्द स्वरूप वीतरागता को नमस्कार हो।

न बालो न वृद्धो न तुच्छो न मूढो,
न स्वेदं न भेदं न मूर्तिर्न स्नेहः।
न कृष्णं न शुक्लं न मोहं न तन्द्रा,
चिदानन्द-रूपं नमो वीतरागम्॥6॥

अन्वयार्थ : (मेरी शुद्धात्मा आत्मा) बालो न – बालक रूप नहीं, तुच्छो न – हीन रूप नहीं, मूढो न – मूढ़ नहीं, स्वेदं न – स्वेद रूप नहीं भेदं न – भेद रूप नहीं, मूर्तिः न – मूर्ति रूप नहीं, स्नेहः न – स्नेह रूप नहीं, कृष्णं न – काला रूप नहीं, शुक्लं न – गोरा रूप

नहीं, मोहं न – मोह रूप नहीं, तन्द्रा न – तन्द्रा रूप नहीं, चिदानन्दरूपम् – चैतन्य के आनन्द स्वरूप, वीतरागम् – वीतरागता को मैं, नमः – नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ : मेरी यह शुद्धात्मा बालक, वृद्ध, हीन, मूर्ख, स्वेद, भेद, मूर्तिक, स्नेह, काला, गोरा, मोह और तन्द्रा रूप नहीं है। ऐसी आत्मा के आनन्द स्वरूप वीतरागता को नमस्कार हो।

न आद्यं न मध्यं न अन्तं न मन्या।

न द्रव्यं न क्षेत्रं न कालो न भावः।

न शिष्यो गुरुर्नापि हीनं न दीनं।

चिदानन्द-रूपं नमो वीतरागम्॥7॥

अन्वयार्थ : (मेरी आत्मा) आद्यं न – आदि रूप नहीं, मध्यं न मध्य रूप नहीं, अंतं न – अंत रूप नहीं, अन्या न – अन्य (दूसरा) रूप नहीं, द्रव्यं न – द्रव्य रूप नहीं, क्षेत्रं न – क्षेत्र रूप नहीं है, कालो न – काल रूप नहीं, भावः न – भाव रूप नहीं, शिष्यः न – शिष्य रूप नहीं है, गुरुः न – गुरु रूप नहीं, हीनं दीनं न अपि – हीन व दीन रूप भी नहीं है, चिदानन्दरूपं – चैतन्य के आनन्द स्वरूप, वीतरागम् – वीतरागता को मैं, नमः – नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ : मेरा यह शुद्धात्मा आदि मध्य और अंत रूप नहीं है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, गुरु, शिष्य, हीन, भिखारी आदि रूप भी नहीं है। ऐसी आत्मा के आनन्द स्वरूप वीतरागता को मैं नमस्कार करता हूँ।

इदं ज्ञान-रूपं स्वयं तत्त्ववेदी,

न पूर्णं न शून्यं न चैत्यस्वरूपो।

न चान्यो न भिन्नं न परमार्थमेकम्।

चिदानन्द-रूपं नमो वीतरागम्॥8॥

अन्वयार्थ : इदं – (मेरा यह आत्मा), स्वयं ज्ञानरूपं – स्वयं ज्ञान स्वरूप है, तत्त्ववेदी – तत्त्वों को जानने वाला है, पूर्णं न – पूर्ण रूप नहीं, शून्यं न – शून्य रूप नहीं, चैत्यं स्वरूपी न – प्रतिमा रूप नहीं है, च और, अन्यं न अन्य रूप नहीं है, भिन्नं न – भिन्न

नहीं है, परमार्थ एकम् न – एक परमात्मा रूप नहीं है, चिदानन्दरूपं – चैतन्य के आनन्द स्वरूप, वीतरागम् – वीतराग (देव) को नमः – नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ : मेरा यह आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है, सम्पूर्ण तत्त्वों को जानने वाली है। यह न तो पूर्ण है, न शून्यरूप है, न प्रतिमा रूप है और न अन्यरूप है और न ही भिन्न है, न एक परमात्मरूप है। ऐसी आत्मा के आनंद स्वरूप वीतरागता को मैं नमस्कार करता हूँ।

आत्माराम-गुणाकरं गुणनिधिं चैतन्य-रत्नाकरं,
सर्वे भूतगता गते सुख दुःखे ज्ञाते त्वया सर्वगे।
त्रैलोक्याधिपते स्वयं स्वमनसा ध्यायन्ति योगीश्वराः,
वंदे तं हरिवंश हर्ष-हृदयं श्रीमान् हृदयाभ्युद्यताम्॥9॥

अन्वयार्थ : त्वया – आपके द्वारा, सर्वे – सर्वत्र व्याप्त, भूतगतागते – विगत भूत एवं भविष्यकालीन, सुख-दुःखे ज्ञाते – सुख-दुःखों को जान लिया गया है (जिन्हें), योगीश्वराः – मुनीश्वर गण, स्वयं स्वमनसा – स्वयं अपने हृदय से, ध्यायन्ति – ध्यान करते हैं, त्रैलोक्याधिपते – हे त्रिलोकीनाथ! (मैं) आत्माराम-गुणाकरं गुणनिधिम् – आत्मगुणों को आकर (निधान) हरिवंशहर्षहृदयम् – हरिवंश के हृदय को हर्षित करने वाले, श्रीमान् – अंतरंग व बहिरंग लक्ष्मी से युक्त भगवान, हृदाभ्युद्यताम् – मेरे हृदय को भी आनन्दित करें, तं – उनको वन्दे – नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ : आत्मगुणों के समूह गुणों के खजाने तथा चैतन्य गुणों के रत्नाकर तथा सम्पूर्ण भूत, वर्तमान और भविष्यत् काल संबंधी सुख-दुःख के जानने वाले सर्वज्ञ हैं। हे देव। आप तो तीनों लोकों के स्वामी हो, आपको मुनीश्वर जन अपने हृदय में सदैव ध्यान करते हैं। ऐसे हरिवंश के हृदय को प्रफुल्लित करने वाले भगवान मेरे भी हृदय को आनन्दित करें। इसलिए उस वीतरागता को मैं नमस्कार करता हूँ।

॥ इति श्री वीतरागस्तोत्रम् ॥

14. श्री परमानन्दस्तोत्रम्

परमानन्दसंयुक्तं, निर्विकारं निरामयम् ।

ध्यानहीना न पश्यन्ति, निजदेहे व्यवस्थितम् ॥1 ॥

अन्वयार्थ : निर्विकारं – निर्विकार है, निरामयम् – आलस्य (प्रमाद) सहित है, निजदेहे व्यवस्थितम् – जो स्वयं अपने शरीर में स्थित है, ध्यानहीनाः न पश्यन्ति – उसे ध्यान रहित जीव नहीं जान सकते (ऐसी आत्मा), परमानन्दसंयुक्तं – परमानन्द से युक्त है ।

भावार्थ : निर्विकार आलस्य प्रमाद रहित, स्वयं अपने शरीर में स्थित, उसे ध्यान रहित जीव नहीं जान सकते – ऐसी आत्मा परम आनन्द से युक्त है ।

अनन्तसुखसम्पन्नं ज्ञानामृतपयोधरम् ।

अनन्तवीर्यसम्पन्नं, दर्शनं परमात्मनः ॥2 ॥

अन्वयार्थ : अनन्तसुखसम्पन्नं – अनन्त सुख सहित, ज्ञानामृतपयोधरम् – ज्ञानरूपी अमृत को मेघ के समान, अनन्तवीर्यसम्पन्नं – अनन्तवीर्य से युक्त, परमात्मनः दर्शनं – उत्कृष्ट आत्मा उसे देखते हैं ।

भावार्थ : अनन्त सुख सहित, ज्ञानरूपी अमृत को मेघ के समान, अनन्तवीर्य से युक्त उत्कृष्ट आत्मा उसे देखते हैं ।

निर्विकारं निराबाधं, सर्वसंगविवर्जितम् ।

परमानन्दसम्पन्नं, शुद्धचैतन्यलक्षणम् ॥3 ॥

अन्वयार्थ : निर्विकारं – विकार से रहित, निराबाधं – बाधा से रहित, सर्वसंग-विवर्जितम् – सम्पूर्ण बाह्य व अंतरंग परिग्रह से रहित, परमानन्दसम्पन्नं – परम आनंद से संयुक्त, शुद्धचैतन्यलक्षणम् – शुद्ध चैतन्य रूप आत्मा का लक्षण है ।

भावार्थ : विकार, बाधा से रहित और सम्पूर्ण बाह्य, अंतरंग परिग्रह से रहित, परम आनंद से संयुक्त और शुद्ध चैतन्यरूप आत्मा का लक्षण है ।

उत्तमा स्वात्मचिन्ता स्यान्मोहचिन्ता च मध्यमा ।

अधमा कामचिन्ता स्यात्, परचिन्ताऽधमाधमा ॥4 ॥

अन्वयार्थ : स्वात्मचिन्ता – अपने आत्मा की चिन्ता करना उत्तमा – उत्कृष्ट स्यात् – है, मोहचिन्ता – मोह (शरीर) की चिन्ता करना, मध्यमा – मध्यम स्यात् – है, कामचिन्ता – विषय-भोगों की चिन्ता करना, अधमा – अधम (पाप) स्यात् – है, च – और, परचिन्ता – दूसरों की चिन्ता करना, अधमाधमाः – महा अधम (महापाप) स्यात् – है।

भावार्थ : अपने आत्मा की चिन्ता करना उत्कृष्ट है, मोह (शरीर) की चिन्ता करना मध्यम है, विषय-भोग की चिन्ता करना पाप (अधम) है और दूसरों की चिन्ता करना महापाप (महा अधम) है।

निर्विकल्पं समुत्पन्नं ज्ञानमेव सुधारसम्।

विवेकमञ्जुलिं कृत्वा, तत्पिबन्ति तपस्विनः ॥5 ॥

अन्वयार्थ : निर्विकल्पसमुत्पन्नं – विकल्प से रहित उत्पन्न होने वाले, ज्ञानम् एव सुधारसम् – ज्ञानरूपी अमृत का पान, विवेकम् अञ्जुलिं कृत्वा – विवेक को धारण करने वाले, तपस्विनः – तपस्वी जन, तत् पिबन्ति – उसको पीते हैं।

भावार्थ : विकल्प से रहित होने वाले ज्ञानरूपी अमृत का पान विवेक को धारण करने वाले महान तपस्वी जन करते हैं।

सदानन्दमयं जीवं यो जानाति स पण्डितः।

स सेवते निजात्मानं, परमानन्दकारणम् ॥6 ॥

अन्वयार्थ : यः – जो, जीवं – जीव को, सदानन्दमयं – सदा आनंद में लीन रहने वाला, जानाति – जानते हैं, स – उसे, पण्डितः – पंडित कहते हैं, स – वह, सदा निजात्मानं – सदा अपनी आत्मा के स्वरूप का, सेवते – सेवन करते हैं (क्योंकि), परमानन्दकारणम् – वह उत्कृष्ट आनंद का कारण है।

भावार्थ : जो जीव को सदा आनन्द में लीन रहने वाला जानते हैं, उसे विद्वान कहते हैं। वह सदा आत्मा के स्वरूप का सेवन करते हैं; क्योंकि वह उत्कृष्ट आनन्द का कारण है।

नलिन्यां च यथा नीरं, भिन्नं तिष्ठति सर्वदा।

अयमात्मा स्वभावेन, देहे तिष्ठति निर्मलः ॥7 ॥

अन्वयार्थ : यथा – जिस प्रकार, नलिन्यां – नलिनी, सर्वदा – हमेशा, नीरं भिन्नं तिष्ठति – जल से अलग रहती है (उसी प्रकार), अयम् – यह, निर्मलः – निर्मल आत्मा – आत्मा, स्वभावेन – स्वभाव से, देहे – शरीर से, भिन्नं तिष्ठति – अलग रहती है।

भावार्थ : जिस प्रकार नलिनी हमेशा जल से अलग रहती है, उसी प्रकार यह आत्मा स्वभाव से शरीर से अलग रहती है।

द्रव्यकर्ममलैर्मुक्तं भावकर्मविवर्जितम् ।
नोकर्मरहितं विद्धि, निश्चयेन चिदात्मनः ॥8 ॥

अन्वयार्थ : निश्चयेन – निश्चय से, चिदात्मनः – यह आत्मा, द्रव्यकर्म – ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मरूपी, मलैः मुक्तं – मल से मुक्त है, भावकर्म – रागादि भाव कर्मों से, विवर्जितम् – रहित है, नोकर्मरहितं – शरीरादि नोकर्म से भी रहित है, विद्धि – सिद्ध स्वरूप है।

भावार्थ : निश्चय से यह आत्मा ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों से मुक्त है, रागादि भावकर्मों से रहित है और शरीरादि नोकर्म से भी रहित है; इसलिए यह सिद्ध स्वरूप है।

आनन्दं ब्रह्मणो रूपं निज देहे व्यवस्थितम् ।
ध्यानहीना न पश्यन्ति, जात्यन्धा इव भास्करम् ॥9 ॥

अन्वयार्थ : आनन्दब्रह्मणो रूपं – आनन्द ब्रह्म स्वरूप है, निजदेहे – अपने शरीर में, व्यवस्थितम् – व्यवस्थित है, ध्यानहीनाः – उसे ध्यान रहित जीव न – नहीं, पश्यन्ति – जानते हैं, (जैसे) जात्यन्ध इव – जन्म से अन्धा मनुष्य, भास्करम् – सूर्य को, न पश्यन्ति – नहीं जानता है।

भावार्थ : आत्मा आनन्द ब्रह्म स्वरूप है और अपने शरीर में व्यवस्थित है, उसे ध्यानरहित जीव नहीं जानते हैं। जैसे जन्म से अन्धा मनुष्य सूर्य को नहीं जानता है।

तद्भयानं क्रियते भव्यैर्मनो येन विलीयते ।
तत्क्षणं दृश्यते शुद्धं चिच्चमत्कारलक्षणम् ॥10 ॥

अन्वयार्थ : येन – जिस समय, भव्यैः – भव्य जीव, मनोविलीयते – मन को स्थिर करने के लिए, तद्‌ध्यानं – उस शुद्ध ध्यान को, क्रियते – करते हैं, तत्क्षणं – उसी समय, चिच्चमत्कार – चिच्चमत्कार रूप, शुद्धं – शुद्ध आत्मा का, लक्षणम् – लक्षण (स्वभाव), दृश्यते – भासता है।

भावार्थ : मन को स्थिर करने के लिए भव्यजीव शुद्ध ध्यान को करते हैं, उसी समय चिच्चमत्कार शुद्ध आत्मा का स्वभाव भासता है।

ये ध्यानशीला मुनयः प्रधानास्ते दुःखहीना नियमाद्भवन्ति।

सम्प्राप्य शीघ्रं परमात्मतत्त्वम्, व्रजन्ति मोक्षं क्षणमेकमेव ॥11 ॥

अन्वयार्थ : ये – जो, ध्यानलीनाः – ध्यान में लीन हैं, मुनयः प्रधानाः – मुनियों में श्रेष्ठ (प्रधान) हैं, ते – वे, नियमाद् – नियम से, दुःखहीनाः – दुःखों से रहित, भवन्ति – होते हैं, (वे) शीघ्रं – जल्दी से, परमात्मतत्त्वं – परमात्म तत्त्व को, सम्प्राप्य – प्राप्त होकर, क्षणं एकं एव – एक क्षण में ही, मोक्षं व्रजन्ति – मोक्ष प्राप्त करते हैं।

भावार्थ : जो ध्यान में लीन होते हैं, वे नियम से दुःखों से रहित होते हैं और मुनियों में श्रेष्ठ हैं। जल्दी से परमात्म तत्त्व को प्राप्त होकर क्षणमात्र में मोक्ष प्राप्त करते हैं।

आनन्दरूपं परमात्मतत्त्वं, समस्तसंकल्पविकल्पमुक्तम्।

स्वभावलीना निवसन्ति नित्यं, जानाति योगी स्वयमेव तत्त्वम् ॥12 ॥

अन्वयार्थ : – समस्तसंकल्पविकल्प – समस्त संकल्प-विकल्प से, मुक्तं – रहित, स्वभावलीन – स्वभाव में लीन, नित्यं – सदैव, निवसन्ति – निवास करते हैं (ऐसे), आनन्दरूपं परमात्मतत्त्वं – परमात्म तत्त्व रूप आनंद को, योगी – योगिजन, स्वयमेव तत्त्वं – अपने आत्मतत्त्व को, जानाति – जानते हैं।

भावार्थ : समस्त संकल्प-विकल्प से रहित स्वभाव में लीन सदैव रहते हैं, ऐसे परमात्म तत्त्व रूप आनन्द को योगिजन अपने आपको जानते हैं।

॥ इति श्री परमानन्दस्तोत्रम् ॥

15. श्री परमात्म-स्वरूप

चिदानन्दमयं शुद्धं निराकारं निरामयम्।

अनन्तसुखसम्पन्नं सर्वसंगविवर्जितम् ॥1 ॥

अन्वयार्थ : निराकारं – निराकार, निरामयम् – निरामय, अनन्तसुखसम्पन्नं – अनन्तसुख से युक्त, सर्वसंगविवर्जितम् – सम्पूर्ण परिग्रह से रहित, चित् – आत्मा है (और वह आत्मा) आनन्दमयं शुद्धं – आनन्द स्वरूप शुद्ध है।

भावार्थ : निराकार, निरामय और अनन्त सुख से युक्त सम्पूर्ण परिग्रह से रहित आत्मा है और वह आनन्द स्वरूप शुद्ध है।

लोकमात्रप्रमाणोऽयं निश्चये न हि संशयः।

व्यवहारे तनूमात्रः कथितः परमेश्वरैः ॥2 ॥

अन्वयार्थ : परमेश्वरैः – जिनेन्द्र देव ने, व्यवहारे – व्यवहार नय से (आत्मा को), तनूमात्रः – अपने शरीर प्रमाण, कथितः – कहा है, (और) निश्चये – निश्चय नय की अपेक्षा, अयं – यह आत्मा, लोकमात्रप्रमाणः – लोकमात्र प्रमाण है, न हि संशयः – इसमें संशय नहीं है।

भावार्थ : जिनेन्द्रदेव ने व्यवहारनय से आत्मा को अपने शरीर प्रमाण कहा है और निश्चयनय की अपेक्षा यह आत्मा लोक प्रमाण है। इसमें संशय नहीं है।

यत्क्षणं दृश्यते शुद्धं तत्क्षणं गतविभ्रमः।

स्वस्थचित्तः स्थिरीभूत्वा, निर्विकल्पसमाधितः ॥3 ॥

अन्वयार्थ : यत्क्षणं – जिस समय (यह आत्मा), शुद्धं – शुद्ध स्वरूप में, दृश्यते – लीन होता है, तत्क्षणं – उसी समय, गतिविभ्रमः – सम्पूर्ण विकल्प जाल से दूर, स्वस्थचित्तः – स्वस्थ चित्त (मन) में, स्थिरीभूत्वा – स्थिर हो जाता है, (जो) निर्विकल्पसमाधितः – निर्विकल्प ध्यान से प्राप्त होता है।

भावार्थ : जब यह आत्मा शुद्ध स्वरूप में लीन होता है, तब सम्पूर्ण विकल्प जाल से दूर और स्वस्थ मन में स्थित हो जाता है। यह निर्विकल्प ध्यान से प्राप्त होता है।

स एव परमं ब्रह्म, स एव जिनपुङ्गवः।

स एव परमं तत्त्वं, स एव परमो गुरुः ॥4 ॥

अन्वयार्थः : स एव – वही आत्मा, परमं ब्रह्म – परम ब्रह्म है, स एव – वही आत्मा, जिनपुंगवः – जिनों में श्रेष्ठ है, स एव – वही आत्मा, परमं तत्त्वं – उत्कृष्ट तत्त्व है, (और) स एव – वही आत्मा, परमो गुरुः – परम गुरु है।

भावार्थः : वही आत्मा परम ब्रह्म है, जिनों में श्रेष्ठ है, वही उत्कृष्ट तत्त्व और वही उत्कृष्ट गुरु है।

स एव परमं ज्योतिः, स एव परमं तपः।

स एव परमं ध्यानं, स एव परमात्मकः ॥5 ॥

अन्वयार्थः : स एव – वही आत्मा, परमं ज्योतिः – केवलज्ञान रूपी ज्योति स्वरूप है, स एव – वही आत्मा, परमं तपः – उत्कृष्ट तप है, स एव – वही आत्मा, परमं ध्यानं – परम ध्यान है, स एव – वही आत्मा, परमात्मकः – परमात्मा रूप है।

भावार्थः : वही परम ध्यानरूपी आत्मा उत्कृष्ट तप से, केवलज्ञानरूपी ज्योति से परमात्मा रूप है।

स एव सर्वकल्याणं, स एव सुखभाजनं।

स एव शुद्धचिद्रूपं, स एव परमः शिवः ॥6 ॥

अन्वयार्थः : स एव – वही आत्मा, सर्वकल्याणं – सम्पूर्ण कल्याण करने वाली है, स एव – वही आत्मा, सुखभाजनम् – सुख प्राप्त करने वाली है, स एव – वही आत्मा, शुद्धचिद्रूपं – शुद्ध चैतन्य रूप है, स एव – वही आत्मा, परमं शिवः – परम मोक्ष रूप है।

भावार्थः : वही आत्मा सम्पूर्ण कल्याण करने वाली, सुख प्राप्त करने वाली है और वही आत्मा शुद्ध और परम मोक्षरूप है।

स एव परमानन्दः, स एव सुखदायकः।

स एव परमं ज्ञानं, स एव गुणसागरः ॥7 ॥

अन्वयार्थः : स एव – वही आत्मा, परमानन्दः – उत्कृष्ट (परम) आनंदरूप है, स

एव - वही आत्मा, सुखदायकः - सम्पूर्ण सुखों को देने वाली है, स एव - वही आत्मा, परमज्ञानं - परम ज्ञानरूप है, स एव - वही आत्मा, गुणसागरः - सम्पूर्ण गुणों का समुद्र है।

भावार्थ : वही आत्मा उत्कृष्ट परम आनन्द रूप है, सब सुखों को देने वाली है। परम ज्ञान रूप एवं सम्पूर्ण गुणों का समुद्र है।

परमाह्लादसम्पन्नं, रागद्वेषविवर्जितम्।

सोऽहं तं देहमध्येषु, यो जानाति स पण्डितः ॥8 ॥

अन्वयार्थ : परमाह्लादसम्पन्नं - परम आह्लाद (प्रसन्नता) से युक्त, रागद्वेष-विवर्जितम् - राग-द्वेष से रहित है, सः अहं - ऐसी आत्मा जो, देहमध्येषु - शरीर में स्थित है, तं - उसे, यः - जो, जानाति - जानता है, सः - वही, पण्डितः - विद्वान है।

भावार्थ : परम प्रसन्नता से युक्त राग-द्वेष से रहित है, ऐसी आत्मा जो शरीर में स्थित है, उसे जो जानता है; वही परम विद्वान है।

आकाररहितं शुद्धं, स्वस्वरूपे व्यवस्थितम्।

सिद्धमष्टगुणोपेतं, निर्विकारं निरंजनम् ॥9 ॥

अन्वयार्थ : (वह) शुद्धं - शुद्ध आत्मा, आकाररहितं - आकार रहित, स्वस्वरूपे - अपने स्वरूप में, व्यवस्थितम् - स्थित है (और) सिद्धं अष्टगुणोपेतं - सिद्धों के अष्ट गुणों से युक्त, निर्विकारं - विकार रहित, निरंजनम् - निरंजन है।

भावार्थ : वह शुद्ध आत्मा आकार रहित अपने स्वरूप में स्थित है और सिद्धों के अष्ट गुणों से युक्त, विकार रहित निरंजन है।

तत्सदृशं निजात्मानं, यो जानाति स पण्डितः।

सहजानन्दचैतन्यं, प्रकाशाय महीयसे ॥10 ॥

अन्वयार्थ : यः - जो, तत्सदृशं - शुद्ध आत्मा के समान, निजात्मानं - अपनी आत्मा को, जानाति - जानता है, सः पण्डितः - वही पंडित है, सहजानन्द - सहज आनंद रूप, चैतन्य - आत्मा को, प्रकाशाय - प्रकट करने में, महीयसे - श्रेष्ठ है।

भावार्थ : जो शुद्ध आत्मा के समान अपनी आत्मा को जानता है, वही विद्वान है;

सहज आनन्द रूप आत्मा को प्रकट करने में श्रेष्ठ है।

पाषाणेषु यथा हेम, दुग्धमध्ये यथा घृतम्।

तिलमध्ये यथा तैलं, देहमध्ये तथा शिवः ॥11॥

अन्वयार्थ : यथा – जिस प्रकार, पाषाणेषु हेम – पत्थर में सोना, यथा – जिस प्रकार, दुग्धमध्ये घृतम् – दूध में घी, यथा – जिस प्रकार, तिलमध्ये तैलं – तिल में तेल, तथा – उसी प्रकार, देहमध्ये शिवः – शरीर में आत्मा है।

भावार्थ : जिस प्रकार पत्थर में सोना, दूध में घी और तिल में तेल व्याप्त है, उसी प्रकार शरीर में आत्मा है।

काष्ठमध्ये यथा वह्निः, शक्तिरूपेण तिष्ठति।

अयमात्मा शरीरेषु यो जानाति स पण्डितः ॥12॥

अन्वयार्थ : यथा – जैसे, काष्ठमध्ये वह्निः – काष्ठ में अग्नि, शक्तिरूपेण तिष्ठति – शक्ति रूप में स्थित है, (वैसे ही) अयम् आत्मा – यह आत्मा, शरीरेषु – शरीर में, तिष्ठति – रहती है, यः – जो (ऐसा), जानाति – जानता है, सः पण्डितः – वही पंडित है।

भावार्थ : जैसे काष्ठ में अग्नि शक्ति रूप है, वैसे ही यह आत्मा शरीर में रहती है। जो ऐसा जानता है, वही विद्वान है।

॥ इति श्री परमात्म-स्वरूप ॥

16. श्री गोम्मटेस थुदि

विसट्ट-कंदोट्ट-दलाणुयारं,
सुलोयणं चंद समाण तुण्डं।
घोणा जियं चम्पय पुप्फसोहं,
तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं॥1॥

अन्वयार्थ : सुलोयणं – जिनके उत्तम नेत्र, कंदोट्ट – नीलकमल, दलाणुयारं – दल के अनुसरण को, विसट्ट – छोड़ने वाले अर्थात् उससे भी सुन्दर हैं, तुण्डं – मुख, चंदसमाण – चन्द्रमा के समान सौम्यता, घोणा – नासिका, चम्पय पुप्फसोहं – चम्पक पुष्प की शोभा को, जियं – जीतती है (पराजित करती हैं), तं उन, गोम्मटेसं – गोम्मट स्वामी को, णिच्चं – मैं नित्य, पणमामि – प्रणाम करता हूँ।

भावार्थ : जिनके नेत्र अत्यन्त सुन्दर नीलकमल की पाँखुड़ी का अनुसरण करते हैं, जिनका मुख चन्द्रमण्डल के समान सुशोभित है, जिनकी सुन्दर नासिका चम्पक पुष्प की शोभा को पराजित करती है – ऐसे गोम्मटेश स्वामी को मैं नित्य प्रणाम करता हूँ।

अच्छाय सच्छं जलकंत गण्डं,
आबाहु दोलंत सुकण्ण पासं।
गइंद सुण्डुज्जल बाहु-दण्डं,
तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं॥2॥

अन्वयार्थ : जलकंतगण्डं – जल के समान स्वच्छ कपोल, सुकण्ण पासं – सुन्दर कर्णपाश, आबाहु दोलंत – स्कन्धों तक दोलायित हैं, बाहुदण्डं – दोनों भुजाएँ, गइंद सुण्डुज्जल – गजराज की सूँड के समान सुन्दर लम्बी हैं, तं – उन, अच्छाय सच्छं – आकाश के समान निर्मल, गोम्मटेसं – गोम्मटेस स्वामी को, णिच्चं – (मैं) नित्य पणमामि – प्रणाम करता हूँ।

भावार्थ : जिनकी देह आकाश के समान निर्मल है, जिनके दोनों कपोल (गाल) जल के समान स्वच्छ हैं, जिनके कर्ण पल्लव स्कन्धों (कन्धों) तक दोलायित हैं, जिनकी दोनों भुजाएँ गजराज की सूँड के समान लम्बी एवं सुन्दर हैं – ऐसे उन गोम्मटेश स्वामी को मैं प्रतिदिन प्रणाम करता हूँ।

सुकण्ठ-सोहा जिय-दिव्व संखं,
हिमालयुद्दाम - विसाल - कंधं।
सुपेक्ख णिज्जालय सुट्ठु मज्झं,
तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं॥3॥

अन्वयार्थ : (स्वस्य) - अपने, सुकण्ठ-सोहा - अद्वितीय कंठ की शोभा से, (ये) - जिन्होंने, दिव्वसंखं - अनुपम शंख की शोभा को, जिय - जीत लिया है, यस्य कंधं - जिनका वक्षःस्थल, हिमालयुद्दाम - हिमालय की भाँति उन्नत, च - और, विसाल - उदार है, यस्य - जिनका, सुट्ठु मज्झं - सुन्दर मध्य भाग, कटिप्रदेश, सुपेक्खणिज्जायल - सम्यक् अवलोकनीय है और अचल है, तं - उन, गोम्मटेसं - गोम्मटेश स्वामी को, णिच्चं - (मैं) नित्य, पणमामि - प्रणाम करता हूँ।

भावार्थ : अपने विलक्षण शंख की अद्वितीय शोभा से जिन्होंने दिव्य शंख की शोभा को जीत लिया है, जिनका वक्षःस्थल हिमालय के समान उत्तुंग एवं उदार है, जिनका कटिप्रदेश, सुदृढ़ और दर्शनीय है - ऐसे उन गोम्मटेश स्वामी को मैं नित्य ही नमस्कार करता हूँ।

विंज्जायलगे पविभासमाणं,
सिहामणि सव्व सुचेदियाणं।
तिलोय संतोसय पुण्णचंदं,
तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं॥4॥

अन्वयार्थ : विंज्जायलगे - विन्ध्यगिरि के अग्रभाग में, पविभासमाणं - जो प्रकाशमान हो रहे हैं, सव्व सुचेदियाणं - सभी सुन्दर चैत्यों के, सिहामणि - शिखामणि तथा, तिलोय संतोसय - तीन लोक के जीवों को आनन्द देने में, पुण्णचंदं - जो पूर्ण चन्द्रमा हैं, तं - उन, गोम्मटेसं - गोम्मटेश स्वामी को, णिच्चं - (मैं) नित्य, पणमामि - प्रणाम करता हूँ।

भावार्थ : विन्ध्यगिरि पर्वत के अग्र भाग पर जो अनुपम कान्ति से प्रकाशमान हो रहे हैं, विन्ध्याचल के पर्वत पर जो तपस्या में लीन हैं और सब भव्य जीवों के लिए जो वैराग्यरूपी प्रासाद के शिखर की शिखामणि हैं तथा तीन लोक के जीवों को आनन्द प्रदान करने में जो पूर्ण चन्द्रमा के समान हैं - ऐसे उन गोम्मटेश स्वामी को मैं नित्य प्रणाम करता हूँ।

लया - समक्कंत महासरीरं,
भव्वावलीलद्ध सुकप्प रुक्खं।
देविंद विंदच्चिय-पायपोम्मं,
तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं॥5॥

अन्वयार्थ : लयासमक्कंत - लताओं से आक्रान्त, महासरीरं - (जिनका) विशाल शरीर है, भव्वावलीलद्ध - भव्य समूह के लिए प्राप्त, सुकप्प-रुक्खं - कल्पवृक्ष तथा, देविंद विंदच्चिय - देवेन्द्रों के द्वारा अर्चित जिनके, पायपोम्मं - चरण-कमल हैं, तं - उन, गोम्मटेसं - गोम्मटेश स्वामी को, णिच्चं - (मैं) नित्य, पणमामि - प्रणाम करता हूँ।

भावार्थ : जिनके विशाल शरीर पर चरणों से भुजाओं तक माधवी लताओं की मृदुतम बेलें लिपटी हुई हैं, भव्य जीवों के लिए जो कल्पवृक्ष के समान फल के प्रदाता हैं एवं इन्द्रों-देवेन्द्रों का समूह जिनके चरण-कमलों की पूजा करता है - ऐसे उन गोम्मटेश स्वामी को मैं प्रतिदिन नमस्कार करता हूँ।

दियंबरो जो ण च भीइ-जुत्तो,
ण चांबरे सत्तमणो विसुद्धो।
सप्पादि जंतुप्फुसदो ण कंपो,
तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं॥6॥

अन्वयार्थ : जो दियंबरो - जो दिगम्बर हैं, च - और, भीइजुत्तो - भय युक्त, ण - नहीं हैं अर्थात् निर्भय हैं, च - और, ण चांबरे - न वस्त्रादि में, सत्तमणो - आसक्त मन वाले हैं, विसुद्धो - विशुद्ध हैं, सप्पादि जंतुप्फुसदो - सर्पादि जंतुओं से स्पर्श होने पर भी, ण कंपो - कम्यायमान नहीं हैं, तं - उन, गोम्मटेसं - गोम्मटेश स्वामी को णिच्चं - (मैं) नित्य, पणमामि - प्रणाम करता हूँ।

भावार्थ : जो निर्ग्रन्थ दिगम्बर श्रमण हैं, सप्त भयों से रहित निर्भय हैं, वस्त्राभूषणों में जिनका मन आसक्त नहीं हुआ है और जो महाभयंकर विषधर सर्पादि जंतुओं के स्पर्श, आलिंगित होने पर भी अकम्प-अविचल हैं - ऐसे उन गोम्मटेश बाहुबली स्वामी को मैं नित्य ही प्रणाम करता हूँ।

आसां ण जो पोक्खदि सच्छदिट्ठि,
सोक्खे ण वांछा हयदोस मूलं।
विरायभावं भरहे विसल्लं,
तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं॥7॥

अन्वयार्थ : सच्छदिट्ठि - जो स्वस्थ (सम) दृष्टि होने से, आसां - आशा (तृष्णा) को, ण पोक्खदि - पुष्ट नहीं करते, हयदोस मूलं - दोषों का मूल (मोह) नाश करने से, सोक्खे - जिनकी सुख में ण वांछा - वांछा नहीं और, विरायभावं - विराग भाव होने से भरहे - भरत (भाई) में, विसल्लं - जो निःशल्ल हैं, तं - उन गोम्मटेसं - गोम्मटेश स्वामी को, णिच्चं - (मैं) नित्य, पणमामि - प्रणाम करता हूँ।

भावार्थ : जो समदृष्टि होने से आशातृष्णा को पुष्ट नहीं करते, अपने सम्पूर्ण दोषों के समूल नष्ट होने से जिन्होंने सांसारिक इच्छायें समाप्त कर दीं और अपने अग्रज भाई भरतेश के प्रति संज्वलन मान कषाय भी अब शमित होकर जो वैराग्य में परिणत हो गये हैं - ऐसे निःकांक्षित गोम्मटेश बाहुबली स्वामी को मैं नित्य प्रणाम करता हूँ।

उपाहिमुत्तं धण-धाम वज्जियं,
सुसम्मजुत्तं मय-मोह-हारयं।
वस्सेय-पज्जंतमुववास-जुत्तं,
तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं॥8॥

अन्वयार्थ : उपाहिमुत्तं - जो उपाधि से रहित हैं, धण-धाम - धन-मकान आदि से, वज्जियं - रहित, सुसम्मजुत्तं - समताभाव सहित हैं तथा, मय-मोह-हारयं - मद मोह को नष्ट करने वाले हैं, वस्सेय पज्जंतं - एक वर्ष पर्यन्त, उववासजुत्तं - उपवास धारण करने वाले, तं - उन, गोम्मटेसं - गोम्मटेश स्वामी को, णिच्चं - (मैं) नित्य, पणमामि - प्रणाम करता हूँ।

भावार्थ : जो सम्पूर्ण उपाधि, परिग्रह से मुक्त हैं, धन-मकान आदि के वैभव का जिन्होंने अन्तरंग से ही परित्याग कर दिया है, अहंकार एवं मोह को जिन्होंने तप के द्वारा जीत लिया है, अपने क्षायिक भाव में स्थिर होकर एक वर्ष तक जिन्होंने अखण्ड उपवास धारण किया है - ऐसे उन गोम्मटेश बाहुबली स्वामी को मैं भाव पूर्वक सतत नमस्कार करता हूँ।

॥ इति श्री गोम्मटेश थुदि ॥

17. श्री पंच महागुरु भक्ति

अर्हन्त महागुरु हमें अनन्त चतुष्टय प्रदान करें

मणुयणाइंद सुर धरिय छत्तया,
पंचकल्लाण सोक्खावली पत्तया।
दंसणं णाण झाणं अणंतं बलं,
ते जिणा दित्तु अम्हं वरं मंगलं॥१॥

अन्वयार्थ : मणुय - मनुष्य, णाइंद - नागेन्द्र और, सुरधरिय - सुरेन्द्र द्वारा जिनको, छत्तया - छत्रत्रय लगाये गये हैं, पंचकल्लाण पंच कल्याणकों में, सोक्खावली - सुख संतति, पत्तया - प्राप्त हैं, ते जिणा - वे जिन अरहंत भगवान, दंसणं णाण - अनंत दर्शन ज्ञान, झाणं अणंतं बलं - ध्यान और अनन्त बल, वरं मंगलं - श्रेष्ठ मंगल, अम्हं - हमारे लिए, दित्तु - देवें।

भावार्थ : नरेन्द्र, नागेन्द्र और सुरेन्द्र जिन पर तीन लोक के स्वामित्वपने को दर्शाने के लिए तीन छत्र लगाते हैं; वे अर्हन्त भगवान हमारे लिए उत्कृष्ट मंगलस्वरूप अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त बल और उत्कृष्ट ध्यान प्रदान करें।

श्री सिद्ध परम गुरु हमें ज्ञान प्रदान करें

जेहिं झाणग्गि वाणेहिं अइदइढयं,
जम्म जर मरण णयरत्तयं दइढयं।
जेहिं पत्तं सिवं सासयं ठाणयं,
ते महं दित्तु सिद्धा वरं णाणयं॥२॥

अन्वयार्थ : जेहिं - जिन्होंने, झाणग्गि - ध्यारूपी अग्नि, वाणेहिं - बाणों द्वारा, अइदइढयं - अत्यन्त दृढ़, जम्म जर - जन्म, जरा और मरणरूपी, णयरत्तयं - तीनों नगरों को, दइढयं - जलाया, जेहिं - जिन्होंने, सासयं सिवं - शाश्वत शिव, ठाणयं पत्तं - स्थान को प्राप्त किया, ते सिद्धा - वे सिद्ध भगवान, महं - मुझे, वरं णाणयं - उत्तम ज्ञान, दित्तु - प्रदान करें।

भावार्थ : जिन्होंने ध्यानरूपी अग्नि बाणों के द्वारा अत्यन्त दृढ़ अर्थात् सुदृढ़ जन्म,

वृद्धावस्था और मृत्यु रूपी तीनों नगरों को जलाया है, जिन्होंने शाश्वत मोक्ष स्थान को प्राप्त कर लिया है - ऐसे सिद्ध महागुरु अर्थात् सिद्ध भगवन्त मुझे उत्तम ज्ञान प्रदान करें।

आचार्य परम गुरु मुझे मुक्तिलक्ष्मी प्रदान करें

पंचाचार-पंचग्नि संसाहया,

वारसंगाड़ सुअ जलहि अवगाहया।

मोक्खलच्छी महंती महं ते सया,

सुरिणो दिंतु मोक्खं गया संगया॥३॥

अन्वयार्थ : पंचाचार - जो पाँच प्रकार के आचार रूपी, पंचग्नि - पंचाग्नियों के, संसाहया - सम्यक् साधक, वारसंगाड़ सुअ - द्वादशांग आदि श्रुत रूप, जलहि - सागर में, अवगाहया - अवगाहन करने वाले तथा जो, मोक्खं गया संगया - आशाओं से रहित निर्वाण को प्राप्त हुए हैं, ते सूरिणः - वे आचार्य, महं सया - मुझे सदा, महंती मोक्खलच्छी - महान मोक्ष लक्ष्मी को, दिंतु - प्रदान करें।

भावार्थ : जो ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार रूप पाँच अग्नियों का समीचीन साधन करते हैं, द्वादशांगरूपी समुद्र में अवगाहन करते हैं तथा जो आशाओं से रहित मोक्ष को प्राप्त हुए हैं - ऐसे आचार्य परम गुरु मेरे लिए महान एवं श्रेष्ठ मोक्षरूपी लक्ष्मी को प्रदान करें।

हम उपाध्याय परम गुरु की नित्य वन्दना करते हैं

घोर संसार भीमाडवी-काणणे,

तिक्ख वियराल णह पाव पंचाणणे।

णट्ठमग्गाण जीवाण पहदेसिया,

वंदिमो ते उवज्झाय अम्हे सया॥४॥

अन्वयार्थ : (जिसमें) तिक्ख - तीक्ष्ण, वियराल - विकराल, णह पाव - नाखून वाले पापरूपी, पंचाणणे - सिंह व्याप्त हैं ऐसे, घोर संसार - घोर संसार रूपी, भीमाडवी काणणे - भयंकर अटवी, वन में, णट्ठमग्गाण - मार्ग भ्रष्ट, जीवाण - जीवों को, पहदेसिया - जो मार्ग के उपदेशक, मार्गदर्शक हैं, ते उवज्झाय - उन उपाध्याय को, अम्हे सया - हम सदा, वंदिमो - वंदन करते हैं।

भावार्थ : जिसमें तीक्ष्ण विकराल नख और पैर वाले पाप रूपी सिंह विद्यमान हैं, ऐसे भयंकर संसार रूपी बीहड़ वन में अर्थात् महा भयंकर अटवी में जो अपने मार्ग से भटक गये हैं अथवा मार्ग भूल गये हैं, उन जीवों को जो मार्ग दिखाते हैं; उन उपाध्याय परम गुरु की हम सदा ही वन्दना करते हैं।

साधु परम गुरु मेरे मुक्तिपथ प्रदर्शक हों

उग तव चरण करणेहिं क्षीणं गया,

धम्म वर झाण सुक्केक्क झाणं गया।

णिब्भरं तव सिरी ए समालिंगया,

साहवो ते महं मोक्ख प्पह मग्गया॥5॥

अन्वयार्थ : उग तवचरण – उग्र तपश्चरण, करणेहिं – करने से (जिनका शरीर), क्षीणं गया – क्षीणता को प्राप्त हो गया है, धम्मवर झाण – उत्तम धर्मध्यान तथा, सुक्केक्क – प्रधान शुक्ल, झाणं गया – ध्यान को प्राप्त तथा, तव सिरीए – तप रूपी लक्ष्मी से, णिब्भरं समालिंगया – भारी आलिंगित हैं, ते साहवः – वे साधुगण, महं – मेरे लिए, मोक्ख – मोक्ष पथ के, मग्गया – मार्गदर्शक हों।

भावार्थ : घोर तपश्चरण करने से जिनका शरीर क्षीण हो गया है, जो श्रेष्ठ धर्म और शुक्ल ध्यान को प्राप्त हैं एवं तपरूपी लक्ष्मी के द्वारा जो सुशोभित हो रहे हैं; वे साधु परम गुरु मेरे मोक्षमार्ग के पथ प्रदर्शक बनें।

पंच परम गुरु की वन्दना का फल

एण थोत्तेण जो पंच गुरु वंदए,

गुरुए संसार घणवेल्लि सो छिंदए।

लहइ सोसिद्धि सोक्खाइ वरमाणणं,

कुणइ कम्मिधणं पुंज पज्जालणं॥6॥

अन्वयार्थ : एण थोत्तेण – इस स्तोत्र से, जो पंचगुरु – जो पंच गुरुओं की, वंदए – वंदना करता है, सो – वह, गुरुय – अनन्त, संसार घण – संसारमयी सघन, वेल्लि – वेल को, छिंदए – काट डालता है और, सो वरमाणणं – वह श्रेष्ठ जनों के द्वारा मान्य, सिद्धि सोक्खाइ – मोक्ष के सुखों को, लहइ – प्राप्त होता है, (अपि च) – और भी, कम्मिधणं – कर्मरूपी ईधन पुंज पज्जालणं – समूह को प्रज्वलित, कुणइ – करता है

अर्थात् जला डालता है।

भावार्थ : इस स्तोत्र के द्वारा जो जीव पंच परम गुरुओं की वन्दना करते हैं, वे अनन्त संसार रूपी सघन बेल को काट डालते हैं, उत्तम जनों के द्वारा आचरित मान्य मोक्ष के अक्षय अविनाशी ध्रुव सुख को प्राप्त होते हैं एवं वन्दना द्वारा अपने कर्मरूपी ईंधन के समूह को जलाकर नष्ट कर डालते हैं।

परम गुरुओं की वन्दना सुख प्रदान करे

अरुहा सिद्धाडरिया, उवज्झाया साधु पंच परमेठ्ठी।

एयार णमोयारा, भवे भवे मम सुहं दिंतु।।7।।

अन्वयार्थ : अरुहा - अर्हन्त, सिद्धाडरिया - सिद्ध आचार्य, उवज्झाया - उपाध्याय और, साधु - साधु, पंच परमेठ्ठी - ये पाँच परमेष्ठी हैं, एयार - इनके, णमोयारा - नमस्कार, मम - मुझे, भवे भवे - भव-भव में, सुहं दिंतु - सुख देवें।

भावार्थ : अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु - ये पाँच परमेष्ठी परम गुरु हैं। इनके चरणों की वन्दना मुझे भव-भव में सुख प्रदान करे।

अंचलिका

इच्छामि भन्ते। पंच महागुरु भक्ति काउस्सगो कओ तस्सालोचेउं, अट्ठमहापाडिहेर-संजुत्ताणं अरहंताणं, अट्ठगुण संपण्णाणं उड्ढलोएमत्थयम्मि पइट्ठियाणं सिद्धाणं, अट्ठपवयणमाउ संजुत्ताणं आयरियाणं, आयारादि-सुदणाणोवदेसयाणं उवज्झायाणं, तिरयण गुणपालणरयाणं सव्वसाहूणं, णिच्चकालं, अच्चेमि, पुज्जेमि, वंदामि, णमंसामि दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

अर्थ : हे भगवन्! मैंने पंच महागुरु भक्ति सम्बन्धी जो कायोत्सर्ग किया है, उसकी आलोचना करता हूँ। आठ महाप्रतिहार्यों से सहित अर्हन्त, आठ गुणों से सम्पन्न तथा अथर्वलोक के मस्तक पर स्थित सिद्ध, आठ प्रवचनमातृका से संयुक्त आचार्य, आचारांग आदि श्रुतज्ञान का उपदेश करने वाले उपाध्याय और रत्नत्रय रूपी गुणों का पालन करने में तत्पर सर्व साधुओं की मैं नित्य काल अर्चना करता हूँ, पूजा करता हूँ, वन्दना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ। इसके फलस्वरूप मेरे दुःखों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, रत्नत्रयरूप बोधि की प्राप्ति हो सुगति में गमन हो, समाधिमरण हो और जिनेन्द्र भगवान के अनन्त गुणों की प्राप्ति हो।

18. श्री महावीराष्टकस्तोत्रम्

(कविवर भागचन्दजी कृत)

(शिखरिणी)

यदीये चैतन्ये मुकुर इव भावाश्चिदचिताः,
समं भान्ति ध्रौव्य-व्यय-जनि लसन्तोऽन्तरहिताः ।
जगत्साक्षीमार्ग-प्रकटन-परो भानुरिव यो,
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (नः) ॥1॥

अन्वयार्थ : यदीये - जिनके, चैतन्ये - चैतन्य रूप ज्ञान में, ध्रौव्य-व्यय-जनि - ध्रौव्य, व्यय और उत्पाद से, लसन्तः - युक्त, अन्तरहिताः - अनंत, चिद्-अचितः - चेतन और अचेतन, भावाः - पदार्थ, मुकुटः - दर्पण के, इव - समान, समम् - एक साथ, भान्ति - प्रतिबिम्बित होते हैं (सुशोभित), जगत्साक्षी - जगत-संसार को साक्षात्कार करने वाले, भानुः इव - सूर्य के समान, यः - जो, मार्ग-प्रकटनपरः - मोक्षमार्ग को बताने में तत्पर हैं ऐसे, सः - वे, महावीरस्वामी - महावीर स्वामी, मे - मेरे अथवा, नः - हम सभी के, नयनपथगामी - नेत्रों के मार्गगामी (प्रत्यक्ष), भवतु - हों।

भावार्थ : दर्पण की भाँति जिनके ज्ञान में जीव-अजीव सभी द्रव्य युगपत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित प्रतिभासित होते हैं, जो तीनों लोकों के प्रत्यक्ष ज्ञाता-दृष्टा हैं, जो मुक्तिपथ बताने के लिए सूर्य के समान हैं, वे महावीर स्वामी मेरे नयनों में रहें।

अताम्रं यच्चक्षुः कमल-युगलं स्पन्द-रहितम्,
जनान् कोपापायं प्रकटयति वाभ्यन्तरमपि ।
स्फुटं मूर्तिर्यस्य प्रशमितमयी वातिविमला,
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (नः) ॥2॥

अन्वयार्थ : यच्चक्षुः कमलयुगलम् - जिनके दोनों नयन-कमल, अताम्रं - लालिमा से रहित और, स्पन्दरहितम् - पलक झपकने से रहित हैं जो, जनान् - मनुष्यों को, अभ्यन्तरम् अपि - अंतरंग में भी (हृदय के अंदर भी), वा - अथवा बहिरंग में भी,

कोपापायम् - क्रोध के अभाव को, प्रकटयति - प्रकट करते हैं, यस्य - जिनकी, मूर्तिः - मुद्रा/आकृति, स्फुटम् - स्पष्ट रूप से, प्रशमितमयी - परम शांति से युक्त, वा - और, अतिविमला - अत्यन्त निर्मल है, सः - वे, महावीरस्वामी - महावीर स्वामी, मे - मेरे अथवा, नः - हम सभी के, नयनपथगामी - नेत्रों के मार्गगामी, भवतु - होवें।

भावार्थ : लालिमा व स्पन्दन से रहित जिनके दोनों नेत्रकमल अंतरंग व बाह्य क्रोध के अभाव को बताते हैं तथा जिनकी मुद्रा परम शांत व अत्यन्त विमल है, वे महावीर स्वामी मेरे नयनों के सामने रहें।

नमन्नाकेन्द्राली मुकुटमणि-भा-जाल-जटिलं,
लसत्-पादाम्भोज-द्वयमिह यदीयं तनु भृताम् ।
भवज्वाला-शान्त्यै प्रभवति जलं वा स्मृतमपि,
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (नः) ॥3 ॥

अन्वयार्थ : नमन्नाकेन्द्राली - नमन करते हुए स्वर्ग के इन्द्रों के, मुकुट - शिरमुकुटों की, मणि-भा-जाल - मणियों की प्रभा समूह, जटिलम् - से व्याप्त, यदीयं - जिनके, पादाम्भोजद्वयम् - दोनों चरण-कमल, लसत् - सुशोभित हैं ऐसे वे, इह - इस लोक में, स्मृतम् अपि - जिनका स्मरण भी, तनुभृताम् - शरीरधारियों की, भवज्वाला - संसार रूपी ज्वाला को, शान्त्यै - शान्त करने के लिए, जलं वा - जल के समान, प्रभवति - समर्थ है, सः - वे महावीर स्वामी, मे - मेरे अथवा, नः - हम सभी के, नयनपथगामी - नेत्रों के मार्गगामी (प्रत्यक्ष), भवतु - होवें।

भावार्थ : विनम्र हुए देवेन्द्रों के मुकुटों की मणियों की प्रभा-कांतिमान, दोनों चरण-कमल से हो गई, जिनका स्मरण संसारियों के लिए दुःख शांत करने को जल के समान है, वे महावीर स्वामी मेरे नेत्रों के सामने रहें।

यदर्चा-भावेन प्रमुदित-मना दर्दुर इह,
क्षणादासीत् स्वर्गी गुण-गणसमृद्धः सुखनिधिः ।
लभन्ते सद्भक्ताः शिव-सुख-समाजं किमु तदा,
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (नः) ॥4 ॥

अन्वयार्थ : यदर्चा – जिनकी पूजा के, भावेन – भाव से, प्रमुदितमनाः – हर्षित चित्त वाला, दर्दुर – मेंढक, इह – इस लोक में, क्षणात् – क्षण भर में, गुण-गणसमृद्धः – अणिमा-महिमा आदि गुणों के समूह से सम्पन्न, सुखनिधिः – सुख का निधान, स्वर्गी – स्वर्ग का देव, आसीत् – हो गया, सद्भक्ता – फिर सच्चे भक्तजन, शिवसुखसमाजम् – मोक्ष सुख के समूह को, लभन्ते – प्राप्त होते हैं, तदा किमु – तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है?, सः – वे, महावीर स्वामी, मे – मेरे अथवा, नः – हम सभी के, नयन पथगामी – नेत्रों के मार्गगामी (प्रत्यक्ष), भवतु – होवें।

भावार्थ : प्रमुदित मन से मेंढक ने यहाँ पूजन के भाव किये तो मरकर क्षण में गुण समूह से युक्त सुखनिधि पाकर देव हुआ। जो मनुष्य आपकी सच्ची भक्ति करें, वे मोक्ष पा लें तो क्या आश्चर्य! ऐसे महावीर स्वामी मेरे नयनों में रहें।

कनत्-स्वर्णाभासोऽप्यपगत-तनुर्ज्ञान-निवहो,

विचित्रात्माप्येको नृपतिवरसिद्धार्थ-तनयः ।

अजन्मापि श्रीमान् विगतभव-रागोऽद्भुतगतिः,

महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (नः) ॥5 ॥

अन्वयार्थ : कनत्स्वर्णाभासः – तपाये (चमकते) हुए सुवर्ण के, अपि – समान कान्ति होते हुए भी, अपगततनुः – शरीर से रहित हो, विचित्रात्मा अपि – अनेक आत्मा होकर भी, एकः – अद्वितीय हो, अजन्मा अपि – जन्म से रहित होकर भी, नृपतिवरसिद्धार्थ – महाराज सिद्धार्थ के, तनयः – पुत्र हो, श्रीमान् – बहिरंग लक्ष्मी से युक्त होकर भी, विगत-भ्वरागः – सांसारिक राग से रहित हो, ज्ञाननिवहः – ज्ञान पुंज, अद्भुतगतिः – अद्भुत (पंचम) गति के धारी, सः – वे महावीर स्वामी, मे – मेरे अथवा, नः – हम सभी के, नयन – नेत्रों के मार्गगामी (प्रत्यक्ष), भवतु – होवें।

भावार्थ : जो स्वर्णमयी काया होते हुए तन से रहित हैं, जन्म रहित होते हुए भी सिद्धार्थ के पुत्र हैं तथा राग-द्वेष से रहित होते हुए भी श्री लक्ष्मी से युक्त हैं, वे महावीर स्वामी मेरे नयनों में रहें।

यदीया वाग्गंगा विविधनय-कल्लोलविमला,

वृहज्ज्ञानांभोभिर्जगति जनतां या स्नपयति ।

इदानीमप्येषा बुध-जन-मरालैः परिचिता,
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (नः) ॥6 ॥

अन्वयार्थ : यदीया - जिनकी, या - जो, वाग्गंगा - वाणी रूपी गंगा है, वह विविध - अनेक, नयकल्लोल - नय रूपी तरंगों से, विमला - उज्ज्वल है, बृहत् - विपुल/अत्यधिक, ज्ञानाम्भोभिः - ज्ञान रूप जल से, जगति - इस लोक में, जनताम् - प्राणियों का, स्नपयति - अभिषेक करके उनके संताप को शांत करती है, इदानीम् अपि - और आज भी वर्तमान काल में भी, एषा - यह गंगा, बुधजन-मरालैः - विद्वज्जन रूपी हंसों से परिचित हो रही है, महावीरस्वामी - महावीर स्वामी, मे - मेरे अथवा, नः - हम सभी के, नयनपथगामी - नेत्रों को मार्गगामी (प्रत्यक्ष), भवतु - होवें।

भावार्थ : जिनके वचनों की गंगा विविध नयों से कल्लोलित होती हुई अत्यन्त विमल है तथा संसारी प्राणियों को विपुल ज्ञानरूपी जल से स्नान कराके उनके संताप को शांत करती हुई विद्वज्जनों से आज भी परिचित हो रही है - ऐसे महावीर स्वामी मेरे नयनों के सामने (होवें) रहें।

अनिर्वारोद्रेकस्त्रिभुवन-जयी काम-सुभटः,
कुमारावस्थायामपि निजबलाद्येन विजितः ।
स्फुरन्नित्यानन्द-प्रशम-पदराज्याय स जिनः,
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (नः) ॥7 ॥

अन्वयार्थ : येन - जिसने, कुमारावास्थायाम् - कुमार अवस्था होने पर, अपि - भी, स्फुरन्नित्यानन्द - स्फुरायमान नित्य आनंद, प्रशम - वाले प्रशान्त, पद-राज्याय - शिवपद के राज्य को पाने के लिए, निजबलात् - अपने आत्मबल से ही, अनिर्वारोद्रेकः - जिस उद्रेक को जीतना बहुत कठिन है ऐसे, त्रिभुवनजयी - तीनों लोक को जीतने वाले, काम-सुभटः - काम रूपी महान योद्धा को, विजितः - जीता है, सः जिनः - वे जिनेन्द्र महावीर स्वामी, मे - मेरे अथवा, नः - हम सभी के, नयनपथगामी - नेत्रों के मार्गगामी (प्रत्यक्ष), भवतु - होवें।

भावार्थ : तीनों लोकों को पराजित कर दिया है, जिसका निवारण बहुत कठिन है, ऐसे काम के वेग को कुमार अवस्था में ही अनुपम आत्म-बल से शांति व सुख का साम्राज्य

प्राप्त करने के ध्येय से जीत लिया है, वे महावीर स्वामी मेरे नयनों में रहें।

महा-मोहातंक-प्रशमन-परा-कस्मिन्भिषग्,
निरापेक्षो बन्धुर्विदित-महिमा मंगलकरः ।
शरण्यः साधूनां भव-भय-भृतामुत्तम-गुणो,
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (नः) ॥४॥

अन्वयार्थ : महा-मोहातंक - महान मोह के आतंक को, प्रशमन - सर्वथा शांत करने में, पराकस्मिक् - तत्पर आकस्मिक, भिषङ् - अकारण वैद्य, निरापेक्षः - अपेक्षा रहित, बन्धुः - परम बन्धु, विदित-महिमा - सर्व विदित महिमा वाले, मंगलकरः - मंगल कारक, भव-भय-भृताम् - भव के भय से भयशील, साधूनाम् - साधुओं को, शरण्यः - शरण देने वाले, उत्तम गुणः - परमोत्कृष्ट गुणशाली, सः - वे महावीर स्वामी, मे - मेरे अथवा, नः - हम सभी के, नयनपथगामी - नेत्रों के मार्गगामी (प्रत्यक्ष), भवतु - हों।

भावार्थ : जो गहन मोह आतंक को सर्वथा शान्त करने के लिए कुशल वैद्य हैं, प्राणियों के निःस्वार्थ बंधु हैं, जिनका माहात्म्य सुखकर है, भवभीरु साधुओं को शरणदाता हैं, उत्तम गुणों के धारी हैं, वे महावीर स्वामी मेरे नयनों के सामने रहें।

महावीराष्टकं स्तोत्रं भक्त्या भागेन्दुना कृतम् ।
यःपठेच्छृणुयाच्चापि स याति परमां गतिम् ॥

अन्वयार्थ : भागेन्दुना - भागचन्द्र कवि द्वारा, भक्त्या - भक्तिपूर्वक, कृतम् - रचित, महावीराष्टकम् - इस आठ पद्यमय महावीराष्टक, यः - जो मनुष्य, स्त्रोतम् - स्तोत्र को, पठेत् - पढ़ेगा, च अपि - और अथवा, शृणुयात् - सुनेगा, सः - वह, परमाम् - उत्कृष्ट, गतिम् - शिव गति को, याति - प्राप्त करेगा।

भावार्थ : कवि भागचंद्र द्वारा रचित भगवान महावीर की भक्ति में समर्पित ये आठ छंद हैं। जो भी इसे पढ़ता है, सुनता है; वह परम गति को प्राप्त करता है।

॥इति श्री महावीराष्टकस्तोत्रम्॥

19. श्री भक्तामरस्तोत्रम्

जिनपद-वन्दन

भक्तामर-प्रणत-मौलि-मणि-प्रभाणा-
मुद्योतकं-दलित-पाप-तमो-वितानम्।
सम्यक्-प्रणम्य-जिनपादयुगं-युगादा-
वालम्बनं भवजले पततां जनानाम्।।।।।

अन्वयार्थ : भक्त - भजने वाले, अमर - देवों के, प्रणत - नम्रीभूत, मौलि - मुकुटों के, मणि - मणियों की, प्रभागाम् - कांति को, उद्योतकम् - बढ़ाने वाले, पाप - पापरूपी, तमः - अंधकार के, वितानम् - समूह के, दलित - नाशक, युगादा - युग के आदि में, भवजले - संसार-समुद्र में, पतताम् - गिरे हुए, जनानाम् - प्राणियों के, आलम्बनं - रक्षक, जिनपादयुगं - ऋषभदेव जिनवर के दोनों चरणों के, सम्यक् - सत्यता से, प्रणम्य - नमस्कार करके (स्तुति करूँगा)।

अर्थ : देवों के मुकुटों में लगी मणि को कांतिमान करने वाले, पापसमूह के नाशक, कर्मयुग के प्रारंभ में संसार-समुद्र में डूबने वालों को जिनके दोनों चरण संसार से तिरने को आलम्बन हैं। मैं उन आदि प्रभु को नमस्कार करके स्तुति करूँगा।

भावार्थ : भगवान् ऋषभदेव के चरण युगल में जब देवगण भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं, तब उनके मुकुट में जड़ित मणियाँ प्रभु के चरणों की दिव्य कान्ति से और अधिकाँक दैदीप्यमान हो जाती हैं। भगवान के चरण का स्पर्श ही प्राणियों के पापों का नाश करने वाला है तथा जो भक्तगण उन चरण युगल का आलम्बन (सहारा) लेते हैं, वे संसार-समुद्र से पार हो जाते हैं। इस युग में धर्म का प्रवर्तन करने वाले प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के चरण-युगल में विधिवत् नमस्कार करके मैं स्तुति करता हूँ।

स्तुति का फल

यः संस्तुतः सकल-वाङ्मय-तत्त्वबोधा-
दुद्भूत-बुद्धि-पटुभिः सुर-लोक-नाथैः

स्तोत्रै-र्जगत्-त्रितय-चित्त-हरै-रुदारैः

स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम् ।।2।।

अन्वयार्थ : यः - जो ऋषभदेव, सकल - समस्त, वाङ्मय - द्वादशांग के, तत्त्वबोधात् - यथार्थ ज्ञान से, उद्भूत - उत्पन्न हुई, बुद्धिपटुभिः - विशिष्ट बुद्धि से चतुर, सुरलोकनाथैः - इन्द्रों के द्वारा, जगत्-त्रितय - तीनों लोकों के प्राणियों के, चित्त-हरैः - चित्त को लुभाने वाले/हरने वाले, च - और, उदारैः - प्रशंसनीय, स्तोत्रैः - स्तोत्रों के द्वारा, संस्तुतः - स्तुत किये गये थे, तम् - उन, प्रथमं - पहले, जिनेन्द्रम् - ऋषभनाथ जिनेन्द्र को/की, अहम् - मैं, अपि - भी, किल - निश्चय से, स्तोष्ये - स्तुति करूँगा।

अर्थ : द्वादशांग वाणी व तत्त्वज्ञान में जो चतुर, ऐसे बृहस्पति द्वारा मन-मोहक स्तोत्रों से जिनकी स्तुति की गई है, अतः मैं भी उन आदि प्रभु की निश्चय से स्तुति करूँगा।

भावार्थ : सम्पूर्ण वाङ्मय (शास्त्रों) का ज्ञान प्राप्त करने से जिनकी बुद्धि अत्यन्त प्रखर हो गई है, ऐसे देवेन्द्रों ने तीनों लोकों के प्राणियों के चित्त को आनन्दित करने वाले सुन्दर स्तोत्रों के द्वारा प्रभु आदिनाथ की स्तुति की है, उन प्रथम जिनेन्द्र की मैं (मानतुंग अल्पबुद्धि वाला सामान्य व्यक्ति) भी स्तुति करने का प्रयत्न कर रहा हूँ।।2।।

लक्ष्मी-सुखदायक

बुद्ध्या विनाऽपि विबुधार्चित-पादपीठ,

स्तोतुं समुद्यत-मति-विगत-त्रपोऽहम्।

बालं विहाय जल-संस्थितमिन्दुबिम्ब-

मन्यः क इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम् ।।3।।

अन्वयार्थ : विबुध - देवों के द्वारा, अर्चित - पूजित है, पादपीठ - पैरों के रखने की चौकी/सिंहासन जिनकी, ऐसे हे जिनेश, विगतत्रपः - लज्जा रहित, अहम् - मैं, बुद्ध्या विना - बुद्धि के बिना, अपि - भी, स्तोतुम् - स्तुति करने के लिये, समुद्यतमतिः - तत्पर, प्रयत्नशील हो रहा हूँ, यतः - क्योंकि, जलसंस्थितम् - जल

में प्रतिबिम्बित, **इन्दुबिम्बम्** – चन्द्रमण्डल को, **सहसा** – बिना विचारे, **ग्रहीतुम्** – पकड़ने को, **बालम्** – बालक या मूर्ख को, **विहाय** – छोड़कर, **अन्यः** – अन्य/दूसरा, **कः** – कौन, **जनः** – मनुष्य, **इच्छति** – इच्छ करता है अर्थात् कोई भी नहीं।

अर्थ : हे स्वामी ! आपकी सेवा देवों द्वारा की गयी है, अतः हम मंदबुद्धि होते हुए भी आपकी भक्ति करते हैं। मेरा यह प्रयास वैसा ही है, जैसे कोई बालक जल में पड़े चन्द्रबिम्ब को अल्पबुद्धि के कारण शीघ्र पकड़ने को दौड़ता है।

भावार्थ : हे देवों द्वारा पूजित जिनेश्वर ! जिस प्रकार जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रबिम्ब को पकड़ना असंभव होते हुए भी नासमझ बालक उसे पकड़ने का प्रयास करता है, उसी प्रकार अत्यन्त अल्पबुद्धि होते हुए भी मैं आप जैसे महामहिम की स्तुति करने का प्रयास कर रहा हूँ। क्या यह मेरी धृष्टता नहीं है? ।।3।।

अवर्णनीय जिनवर गुण

वक्तुं गुणान् गुणसमुद्र! शशाङ्कान्तान्,
कस्ते क्षमः सुरगुरु - प्रतिमोऽपि बुद्ध्या ।
कल्पान्त - काल-पवनोद्धत - नक्रचक्रं
को वा तरीतुमल-मम्बुनिधिं भुजाभ्याम् ।।4।।

अन्वयार्थ : गुणसमुद्र – हे गुणों के सागर, ते – आपके, **शशाङ्क** – चन्द्रमा की कांति के, **कान्तान्** – समान उज्ज्वल, **गुणान्** – गुणों को, **वक्तुम्** – कहने के लिये, **बुद्ध्या** – बुद्धि से, **सुरगुरुप्रतिमः** – बृहस्पति के समान, **अपि** – भी, **कः** – कौन पुरुष, **क्षमः** – समर्थ, **अस्ति** – है, **वा** – जैसे, **कल्पान्तकाल** – प्रलयकाल की प्रचण्ड, **पवनोद्धत** – वायु से कुपित, **नक्रचक्रम्** – मगरमच्छों से परिपूर्ण, **अम्बुनिधिम्** – समुद्र, **भुजाभ्याम्** – भुजाओं से, **तरीतुम्** – तैरने के लिए/पार करने में, **कः** – कौन, **अलम्** – समर्थ, **अस्ति** – है, अर्थात् कोई भी नहीं।

अर्थ : हे गुणों के सागर ! चन्द्रकांति-सम उज्ज्वल आपके गुणों को कहने में बृहस्पति के समान कौन सक्षम है? मैं तो बहुत तुच्छ बुद्धि का धारक हूँ। वैसे ही

प्रलयकाल में उद्धत पवन के साथ मगरमच्छ समूह से युक्त सागर को अपने हाथों से पार करने में कौन समर्थ है? अर्थात् कोई नहीं।

भावार्थ : हे गुणसमुद्र जिनेश्वर! क्या चन्द्रमा के समान (स्वच्छ एवं आनंद रूप) आपके अनंत गुणों को वर्णन करने में देवगुरु (बृहस्पति) के समान बुद्धिमान भी समर्थ हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। जैसे प्रलयकाल के तूफानी पवन से उछल मारते भयानक मगरमच्छ आदि से क्षुब्ध महासमुद्र को क्या कोई मानव अपनी भुजाओं से तैर कर पार कर सकता? अर्थात् कोई नहीं।।4।।

उमड़ती हुई भक्ति प्रेरणा

सोऽहं तथापि तव भक्ति - वशान्मुनीश,
कर्तुं स्तवं विगत - शक्ति - रपि प्रवृत्तः।
प्रीत्यात्म - वीर्य - मविचार्य मृगी मृगेन्द्रं
नाभ्येति किं निजशिशोः परिपालनार्थम्।5।।

अन्वयार्थ : मुनीश! - हे मुनीश्वर, तथापि - तो भी, विगतशक्तिः अपि - सामर्थ्य हीन होते हुए भी, सः अहम् - वह मैं अल्पज्ञ, भक्तिवशात् - भक्ति के वशीभूत होकर, तव - आपकी, स्तवम् - स्तुति को, कर्तुम् - करने के लिए, प्रवृत्तः - तैयार हुआ हूँ, यथा - जैसे, मृगी - हिरणी, आत्मवीर्यम् - अपनी शक्ति को, अविचार्य - नहीं विचार कर, प्रीत्यात्म - आत्म स्नेह से, निजशिशोः - अपने बच्चों की, परिपालनार्थम् - रक्षा के लिए, किम् - क्या, मृगेन्द्रम् - सिंह के सामने, न - नहीं, अभ्येति - आती है? अर्थात् आती है।

अर्थ : हे मुनीश! जिस प्रकार कमजोर हिरणी, पुत्र स्नेह के कारण शिशु को बचाने के लिए शक्ति का विचार न करते हुए शेर से लड़ती है, उसी प्रकार मैं भी शक्तिरहित होते हुए भी आपकी स्तुति में प्रवृत्त हो रहा हूँ।

भावार्थ : हे मुनिजनों के आराध्य देव! यद्यपि आपके अनंत गुणों का वर्णन करने की शक्ति मुझमें नहीं है, फिर भी आपकी भक्ति के वशीभूत होकर, मैं स्तुति करने के लिए

तत्पर हो रहा हूँ। सभी जानते हैं कि हिरणी कितनी ही शक्ति रहित क्यों न हो, किन्तु अपने बच्चे की रक्षा के लिये वात्सल्य भाव के वशीभूत हो आक्रमण करते हुए सिंह का मुकाबला करने के लिए सामने डट जाती है। (उसी प्रकार मैं भी) भक्तिवश हुआ अपनी शक्ति पर विचार किये बिना स्तुति करने के लिए तत्पर हो रहा हूँ। 15।।

स्तवन में मात्र भक्ति ही कारण

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहास - धाम,
त्वद् भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति,
तच्चाग्र-चारु-कलिका-निकरैकहेतुः।। 6।।

अन्वयार्थ : अल्पश्रुतं - अल्पशास्त्र का जानने वाला, श्रुतवतां - विद्वानों की, परिहास-धाम - हँसी का पात्र हो रहा हूँ। माम् - मुझको, त्वद्भक्तिः - आपकी भक्ति, एव - ही, बलात् - बलपूर्वक, मुखरीकुरुते - वाचाल/प्रेरित कर रही है, यत्-जो, कोकिलः - कोयल, किल-निश्चय से, मधौ - बसंत ऋतु में, मधुरं - सुरीली आवाज में, विरौति - कुहकती/बोलती है, तत् च - उसमें, आग्र - आम की, चारुकलिका - सुंदर मंजरी का, निकर - समुदाय ही, एकहेतुः - एकमात्र कारण है।

अर्थ : आपकी स्तुति करने में मैं अल्पज्ञानी हूँ, विद्वानों द्वारा हास्य का पात्र हूँ, लेकिन आपकी भक्ति मुझे बलात् वाचाल बना रही है। जैसे बसंत ऋतु में कोयल से गुंजन कराने के लिए निश्चय से सुंदर आममंजरी ही मुख्य कारण है।

भावार्थ : हे प्रभु! जैसे बसंत ऋतु में आम की मंजरियाँ खाकर कोयल मधुर स्वर में बोलती है, वैसे ही भक्ति का बल पाकर मैं भी स्तुति करने को वाचाल हो रहा हूँ। अन्यथा मैं तो अल्पज्ञ हूँ और विद्वानों के सामने उपहास का पात्र हो रहा हूँ।। 6।।

पापक्षयी जिनवर की स्तुति

त्वत्संस्तवेन भव - सन्तति - सन्निबद्धं,
पापं क्षणात्- क्षय-मुपैति शरीरभाजाम्।

आक्रान्तलोक-मलि-नील-मशेषमाशु,
सूर्याशु-भिन्नमिव शार्वर-मन्ध-कारम् ॥७१॥

अन्वयार्थ : त्वत्संस्तवेन - आपके स्तवन से, शरीरभाजाम् - शरीरधारी प्राणियों के, भवसन्तति - अनेक भवों की परंपरा से, सन्निबद्धम् - बँधे हुए, पापं - पाप कर्म, क्षणात् - क्षणभर में, क्षयम् - क्षय को, उपैति - प्राप्त हो जाते हैं, इव - जैसे, आक्रान्तलोकम् - लोक में व्याप्त, अलिनीलम् - भौर के समान काला, शार्वरम् - रात्रि का, अशेषम् - सम्पूर्ण, अन्धकारम् - अंधकार, आशु - शीघ्र, सूर्याशुभिन्नम् - सूर्य की किरणों से छिन्न-भिन्न हो जाता है।

अर्थ : हे जिनेश! आपके सच्चे स्तवन से प्राणियों के भव-भव के अर्जित कर्म क्षण में क्षय हो जाते हैं। सो ठीक ही है, रात्रि भर रहने वाला अँधेरा सूर्य की एक किरण से ही क्षण में क्षय हो जाता है।

भावार्थ : जिस प्रकार सूर्य को आच्छादित करने वाला, भौर के समान काला/नीला सघन अंधकार सूर्य की किरण निकलते ही छिन्न-भिन्न हो जाता है, उसी प्रकार हे आदि देव! आपकी भक्ति में लीन होने वाले प्राणियों के अनेक जन्मों के संचित पाप-कर्म तत्क्षण में नष्ट होने लगते हैं ॥ ७१ ॥

प्रभु की प्रभुता का प्रभाव

मत्वेति नाथ! तव संस्तवनं मयेद -

मारभ्यते तनुधियापि तव प्रभावात्।

चेतो हरिष्यति सतां नलिनी-दलेषु

मुक्ताफल-द्युतिमुपैति ननूदबिन्दुः ॥७२॥

अन्वयार्थ : नाथ! - हे नाथ!, इति मत्वा - ऐसा मानकर, मयातनुधिया - मुझ अल्पबुद्धि के द्वारा, अपि - भी, तव - तुम्हारा, इदम् - यह, संस्तवनम् - स्तवन, आरभ्यते - आरंभ किया जा रहा है, तव - आपके, प्रभावात् - प्रभाव से यह स्तवन, सताम् - सज्जनों के, चेतः - चित्त को, हरिष्यति - हरण करेगा/आकर्षित करेगा, ननु - निश्चय से, उदबिन्दुः - जल की बूँद, नलिनीदलेषु - कमलिनी के पत्तों पर,

मुक्ताफल – मोती की, **द्युतिम्** – कांति / शोभा को, **उपैति** – प्राप्त होती है।

अर्थ : जिस प्रकार कमल के पत्ते के प्रभाव के कारण पत्ते पर पड़ी जल की बूँद मोती-सी लगती है, वैसे ही मुझ अल्पज्ञ के द्वारा किया गया यह स्तवन सज्जनों के मन को आकर्षित करेगा तो इसमें आपका ही प्रभाव है।

भावार्थ : जिस प्रकार कमलिनी के पत्तों पर पड़ी छोटी-छोटी ओस की बूँदें मोती के समान चमकने लगती हैं, उसी प्रकार हे नाथ! मुझ अल्पज्ञ द्वारा रचित यह स्तोत्र अवश्य ही आपके दिव्य प्रकाश के कारण सज्जनों के मन को आनंदित करेगा।। 8।।

आपकी कथा ही पापनाशक है

आस्तां तव स्तवन-मस्त-समस्त-दोषं,
त्वत् सङ्कथाऽपि जगतां दुरितानि हन्ति।
दूरे सहस्र - किरणः कुरुते प्रभैव,
पद्माकरेषु जलजानि विकास-भाञ्जि।।9।।

अन्वयार्थ : तव – तुम्हारा, अस्त-समस्त-दोषं – समस्त दोष से रहित/निर्दोष, स्तवनं – स्तवन तो, दूरे – दूर, आस्ताम् – रहे परन्तु, त्वत् सङ्कथाऽपि – तुम्हारे नाम की पवित्र कथा भी, जगतां – संसारी प्राणियों के, दुरितानि – पापों को, हन्ति – नष्ट करती है, सहस्रकिरणः – सूर्य, दूरे आस्तां – दूर ही रहे किन्तु उसकी, प्रभा – कांति, एव – ही, पद्माकरेषु – सरोवरों में, जलजानि – कमलों को, विकासभाञ्जि – विकसित, कुरुते – कर देती है।

अर्थ : सूर्य की तो बात ही क्या? जब उसकी प्रभा से ही सरोवर में कमल खिल जाते हैं। ठीक वैसे ही आपकी स्तुति तो दूर, आपकी पवित्र कथा से प्राणियों के सभी पाप दूर हो जाते हैं।

भावार्थ : जिस प्रकार सूर्योदय के समय सहस्ररश्मि (सूर्य) तो बहुत दूर रहता है, किन्तु उसकी प्रभा का स्पर्श (किरणों का प्रकाश) ही सरोवरों में मुरझाये / अलसाये कमलों को विकसित कर देता है, उसी प्रकार हे जिनेश्वर देव! समस्त दोषों (पापों) का

नाश करने वाले आपके स्तोत्र की असीम शक्ति का तो कहना ही क्या, किन्तु श्रद्धा-भक्तिपूर्वक किया गया आपका नाम उच्चारण भी (माला) संसारी जीवों के पापों का नाश कर उन्हें पवित्र बना देता है।।9।।

भगवत् पददातृ भक्ति

नात्यद्भुतं भुवन - भूषण भूतनाथ!,
भूतै-गुणै-भुवि भवन्त-मभिष्टुवन्तः।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति।।10।।

अन्वयार्थ : भुवन-भूषण - हे त्रिभुवन के आभूषण!, भूतनाथ! - हे जगन्नाथ!,
भूतैः - प्राणियों से, गुणैः - गुणों के द्वारा, भवन्तम् - आपकी, अभिष्टुवन्तः -
स्तुति करने वाले पुरुष, भुवि - पृथ्वी पर, भवतः - आपके, तुल्याः - समान,
भवन्ति - हो जाते हैं, इति - यह बात, अत्यद्भुतम् - अति आश्चर्य कारक, न -
नहीं है, वा - अथवा, ननु - निश्चय से, तेन - उस स्वामी से, किम् - क्या लाभ है?,
यः - जो, इह - इस लोक में, आश्रितम् - अपने आश्रित रहने वाले मनुष्य को, भूत्या
- वैभव से / धन सम्पत्ति से, आत्मसमम् - अपने समान, न करोति - नहीं करता है।

अर्थ : हे जगभूषण! प्राणियों के स्वामी! आपके यथार्थ गुणों की भक्ति करने वाले, इस पृथ्वी पर आप जैसे ही हो जाते हैं, इसमें कोई अचरज नहीं। सच्चा मालिक वही है, जो अपने आश्रित को स्वयं अपने जैसा बना ले।

भावार्थ : हे जगदीश्वर! हे भुवनभूषण! आपके क्षमा, सत्य, शील आदि अनेक गुणों की तन्मयतापूर्वक स्तुति करता हुआ मानव जीवन में उन गुणों को धारण कर आपके समान ही महान बन जाता है, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है; क्योंकि जो उदारचित्त स्वामी होते हैं, वे अपनी सेवा करने वाले आश्रितों को अपने समान ही सुखी समृद्ध बनायें तो इसमें क्या आश्चर्य है? अन्यथा उस स्वामी की सेवा से लाभ ही क्या है, जो अपने आश्रितों को अपने समान समृद्ध न बनाये।।10।।

परम दर्शनीय मूर्ति

दृष्ट्वा भवन्तमनिमेष-विलोकनीयं,
नान्यत्र तोष-मुपयाति जनस्य चक्षुः।
पीत्वा पयः शशिकरद्युति-दुग्धसिन्धोः,
क्षारं जलं जल-निधे-रसितुं क इच्छेत्॥11॥

अन्वयार्थ : अनिमेष - अपलक दृष्टि से / बिना पलक झपकाये, विलोकनीयं-देखने के योग्य, भवन्तम् - आपको, दृष्ट्वा - देखकर, जनस्य - मनुष्य की, चक्षुः - आँखें, अन्यत्र - और कहीं पर / कुदेवादि में, तोषम् - संतोष को, न उपयाति - प्राप्त नहीं होती हैं, शशिकर-द्युति - चन्द्रमा की किरणों की कांति वाले, दुग्ध-सिन्धोः - क्षीर सागर के, पयः - जल को, पीत्वा - पीकर, कः - कौन मनुष्य, जलनिधे - लवण समुद्र के, क्षारम् - खारे, जलम् - जल को, रसितुम् - पीने के लिए, इच्छेत् - इच्छा करेगा/अर्थात् कोई नहीं।

अर्थ : हे जिनवर! अपलक देखने योग्य आपका रूप देखकर जो संतोष प्राप्त होता है, वह अन्य देवों को देखकर नहीं होता। क्या क्षीरसागर का कांतिमय मिष्ट जल पीने वाला क्षारीय जल पीना चाहेगा? अर्थात् कोई नहीं।

भावार्थ : हे प्रभु! आपका अलौकिक सौन्दर्य अपलक देखने योग्य है। आप जैसे दिव्य स्वरूप के दर्शन कर लेने के बाद न तो पलक झपकाने का मन होता है और न ही आँखें अन्य कुदेवादि को देखकर संतुष्ट हो सकती हैं; क्योंकि स्वाभाविक ही है कि चन्द्रकिरणों के समान निर्मल और शीतल क्षीरसागर का मधुर जल पीने के बाद लवणसमुद्र का खारा जल पीना कौन चाहेगा? अर्थात् कोई भी नहीं॥11॥

वांछित रूप प्रदायक

यैः शान्त-रागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं,
निर्मापितस् - त्रिभुवनैक-ललामभूत!।
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्याम्,
यत्ते समान-मपरं न हि रूप-मस्ति॥12॥

अन्वयार्थ : त्रिभुवनैक! – हे त्रिभुवन के एकमात्र अद्वितीय!, ललामभूत – सौन्दर्य धारक भगवन्!, यैः शांतराग – जिन शान्त भावों के धारक कांतिवाले, रुचिभिः – सुन्दर, परमाणुभिः – परमाणुओं से, त्वम् – आप, निर्मापितः – बनाये गये हो, ते – वे, अणवः – परमाणु, अपि – भी, खलु-निश्चय से, तावन्तः – उतने, एव – ही थे (जितने आपके शरीर में लग गए हैं।), यत् – क्योंकि, पृथिव्यां – पृथ्वी पर, ते समानम् – आपके समान, अपरं – दूसरा, रूपं – रूप, न – नहीं, अस्ति – है।

अर्थ : हे भगवन्! संसार में जितने वीतरागता के परमाणु थे, वे सब आपमें ही प्रयुक्त हो गए हैं; इसीलिए आप जैसा कोई दूसरा रूप मिलता नहीं, तीन भुवन के अनुपम मुकुट आप ही हो।

भावार्थ : हे त्रिलोकीनाथ! जिन शान्त, सुन्दर, मनोहर परमाणुओं से आपका शरीर निर्मित/बना हुआ है, वे शुभ परमाणु संसार में उतने ही थे, जितने आपके शरीर में लग गये; क्योंकि सम्पूर्ण संसार में आपके समान अन्य कोई दूसरा अलौकिक रूप ही मुझे दिखाई नहीं देता है।।12।।

सर्व उपमा विजयी मुख

वक्त्रं क्व ते सुर-नरोरग-नेत्र-हारि,

निःशेषनिर्जितजगत्-त्रितयोपमानम्।

बिम्बं कलङ्कमलिनं क्व निशाकरस्य,

यद्वासरे भवति पाण्डुपलाशकल्पम्।।13।।

अन्वयार्थ : सुर – देव, नर – मनुष्य और, उरग – धरणेन्द्रों के, नेत्र – नेत्रों को, हारि – हरण करने वाला एवं, निःशेष – समस्त प्रकार से, निर्जित – जीत लिया है, जगत् त्रितय – तीनों जगत की, उपमानम् – उपमाओं को जिसने, ऐसा, ते – आपका, वक्त्रं – मुखमण्डल, क्व – कहाँ? और, कलंकमलिनम् – कलंक से मलिन, निशाकरस्य – चन्द्रमा का, बिम्बम् – बिम्ब, क्व – कहाँ?, यत् – जो कि, वासरे – दिन में, पलाश-कल्पम् – पलाश पुष्प के पत्र के समान /ढाक पुष्प के पत्ते के समान, पाण्डु – फीका/पीला, भवति – हो जाता है।

अर्थ : कहाँ आपका मुख, जो देवों - मानवों के नेत्र हरण करने वाला, तीनों लोक की उपमाओं को निष्प्रभ करने वाला है और कहाँ वह कलंकी चन्द्रमा जो दिन में ढाक पुष्प के पत्ते जैसा निष्प्रभ हो जाता है।

भावार्थ : हे भगवन्! आपके मुखमण्डल को लोग चंद्रमा की उपमा देते हैं, परन्तु मुझे यह उपयुक्त नहीं लगता। क्योंकि देव, मनुष्य और नागकुमारों के (धरणेन्द्रों के) नेत्र को आनंदित करने वाला, प्रकाशवान आपका मुख कहाँ? और दिन में काले धब्बों वाला मलिन ढाक/पलाश के पीले पत्तों की भाँति निस्तेज दिखाई देने वाला चन्द्रबिम्ब कहाँ? सचमुच ही आपके मुख-मण्डल के लिए जगत की सुन्दर से सुन्दर उपमा भी तुच्छ है, कम है।।13।।

लोक व्यापी गुण

सम्पूर्ण-मण्डल-शशाङ्क-कलाकलाप,
शुभ्रा गुणासूत्रिभुवनं तव लङ्घयन्ति।
ये संश्रितास्-त्रिजगदीश्वर नाथमेकम्,
कस्तान् निवारयति संचरतो यथेष्टम्।।14।।

अन्वयार्थ : त्रिजगदीश्वर! - हे तीनों जगत के ईश्वर!, तव-आपके, सम्पूर्ण-मण्डल-शशाङ्क - पूर्णिमा के चन्द्रमण्डल की, कला-कलाप - कला समूह के समान, शुभ्रा - उज्ज्वल, गुणाः - गुण, त्रिभुवनम् - तीनों लोकों को, लङ्घयन्ति - उल्लंघन करते हैं, ये - जिन्होंने, एकम् - एकमात्र, नाथम् - आप जैसे स्वामी का, संश्रिताः - आश्रय लिया है, तान् - उन्हें, यथेष्टम् - स्वेच्छानुसार, संचरतः - विचरण करने से, कः - कौन, निवारयति - रोक सकता है? अर्थात् कोई नहीं।

अर्थ : हे त्रिलाकीनाथ! जिस प्रकार राजा के आधीन रहने वालों को घूमने से कौन रोक सकता है? उसी प्रकार आपके आश्रित रहने वाले प्राणियों को संसार में इच्छानुसार विचरने से कौन रोक सकता है? अर्थात् कोई नहीं।

भावार्थ : हे जगदीश्वर! पूर्णमासी के चन्द्रमा की कलाओं के समान आपके अनंत ज्ञान, दर्शन आदि निर्मल गुण तीनों लोकों में सर्वत्र व्याप्त हो रहे हैं, अर्थात् तीनों लोकों में सर्वत्र आपके गुण गाये जाते हैं। यह ठीक ही है! भला आप जैसे विश्व

के एकमात्र सर्वश्रेष्ठ प्रभु का आश्रय पाने वालों को इच्छानुसार विचरने से कौन रोक सकता है।।14।।

लोक व्यापी गुण

चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्ग-नाभिर्
नीतं मनागपि मनो न विकार-मार्गम्।
कल्पान्त-काल-मरुता चलिताचलेन,
किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित्।।15।।

अन्वयार्थ : यदि - यदि, ते - आपका, मनः - मन, त्रिदशाङ्गनाभिः - देवाङ्गनाओं के द्वारा, मनाक् - जरा-सा / लेश मात्र, अपि - भी, विकारमार्गम् - विकारी भावों को, न नीतम् - नहीं प्राप्त हुआ हो, अत्र - इसमें, चित्रम् किं - आश्चर्य ही क्या है?, चलिताचलेन - पर्वतों को चलायमान करने वाले, कल्पान्तकाल - प्रलयकाल की, मरुता - पवन से / वायु के द्वारा, किम् - क्या, कदाचित् - कभी, मन्दराद्रिशिखरम् - सुमेरु पर्वत का शिखर / चोटी, चलितम् - चलायमान हुआ है, हिलाया गया है? अर्थात् नहीं हिलाया गया।

अर्थ : हे नाथ! प्रचण्ड पवन के द्वारा भी क्या मेरु पर्वत हिलाया जा सका? नहीं। उसी प्रकार आपको देवाङ्गनाओं के द्वारा चलायमान नहीं किया जा सका। आपकी शक्ति अतुल है।

भावार्थ : हे आराध्य देव! स्वर्ग की अप्सराओं ने अपने हाव-भाव विलास द्वारा आपके चित्त को चंचल बनाने का भरपूर प्रयास किया, फिर भी आपका विरक्त मन किंचित् भी विचलित नहीं हुआ, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है; क्योंकि सामान्य पर्वतों को हिला देने वाला प्रलयकाल का प्रचण्ड पवन, क्या कभी सुमेरु पर्वत के शिखर को भी कम्पित कर सकता है? अर्थात् कभी नहीं।। 15।।

सम्मान-सौभाग्य संवर्धक

निर्धूम-वर्ति-रपवर्जित-तैल-पूरः,
कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि।

गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां,
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ! जगत्प्रकाशः ॥16॥

अन्वयार्थ : नाथ! – हे नाथ! त्वम् – आप, निर्धूमवर्तिः – धुँआ और बाती से रहित, अपवर्जित-तैलपूरः – तैल के पूर से रहित हो, फिर भी, इदं – इस, कृत्स्नम् – समस्त, जगत्त्रयम् – तीनों जगत् को, प्रकटीकरोषि – प्रकाशित करते हो, तथा, चलिताचलानां – अचल पर्वतों को चलायमान करने वाली, मरुतां – वायु से भी, जातु – कदाचित् भी, गम्यः – बुझने योग्य, न – नहीं हो, जगत्प्रकाशः – अतः आप जगत् प्रकाशक, अपरः – अपूर्व, दीपः – दीपक, असि – हो।

अर्थ : हे नाथ! तेल-बाती, धूम से रहित होते हुए भी त्रयलोक को प्रकाशित करने वाले आप अपूर्व दीपक हो। जिसे प्रलयकाल की हवाएँ भी बुझा नहीं पातीं।

भावार्थ : हे नाथ! सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करने वाले आप एक ऐसे अलौकिक दीपक हैं, जिसको न बाती की जरूरत है, न तेल की और न ही उससे धुँआ निकलता है। विशाल पर्वतों को काँपा देने वाली पवन भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकती, परन्तु लौकिक दीपक के माध्यम से सीमित क्षेत्र प्रकाशित होता है, जिसमें बाती और तेल भी डालना पड़ता है तथा धुँआ भी निकलता रहता है, कदाचित् वायु के द्वारा वह दीपक बुझ भी जाता है ॥16॥

प्रभो! आप अनोखे दीपक हो
नास्तं कदाचिदुपयासि न राहु-गम्यः
स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति।
नाम्भोधरोदर – निरुद्धमहा – प्रभावः
सूर्यातिशायि महिमासि मुनीन्द्र! लोके ॥17॥

अन्वयार्थ : मुनीन्द्र – हे मुनियों के इन्द्र!, त्वम् – तुम, कदाचित् – कभी, न अस्तम् उपयासि – न अस्त को प्राप्त होते हो, न राहुगम्यः – न राहु के द्वारा ग्रसे जाते हो, न अम्भोधरोदर – न मेघों के माध्यम से, निरुद्ध – छिप गया है, महा-प्रभावः – महान तेज जिसका, ऐसे भी नहीं हो तथा, युगपत् – एक साथ, जगन्ति – तीनों लोकों को, सहसा – शीघ्र ही, स्पष्टीकरोषि – प्रकाशित करते हो, इति – इस तरह आप,

लोके-संसार में, सूर्य-अतिशायि - सूर्य से अधिक, महिमा असि-महिमावाले हो।

अर्थ : हे मुनीन्द्र! न आप अस्त होते हो, न आप राहु से ग्रसित होते हो, न आप बादलों से ढके जाते हो; लेकिन फिर भी तीनों लोकों को प्रकाशित करते हो। आपका प्रभाव लोक में अद्वितीय महिमा वाला है।

भावार्थ : हे मुनीन्द्र! आप सूर्य से भी विलक्षण महिमाशाली हैं। सूर्य प्रतिदिन उदित होता है, अस्त होता है, किन्तु आपका ज्ञानसूर्य तो सदा ही आलोकित रहता है तथा कभी अस्त नहीं होता है। सूर्य को राहु ग्रस लेता है, किन्तु आप निर्विकार और अनंत ऋद्धि सम्पन्न हैं। अतः संसार की कोई भी इच्छा आपको ग्रस नहीं सकती है। सूर्य धीरे-धीरे कुछ सीमित क्षेत्र को प्रकाशित करता है, किन्तु आपका केवलज्ञान रूप प्रकाश सम्पूर्ण जगत को एक साथ प्रकाशित करता है। सूर्य को सामान्य बादल भी ढक लेते हैं, किन्तु आपके महाप्रभाव को कोई भी शक्ति ढक नहीं सकती है।।17।।

सूर्य से भी अधिक महिमावन्त ज्ञान-भानु

नित्योदयं दलित - मोह - महान्धकारं,

गम्यं न राहु - वदनस्य न वारिदानाम्।

विभ्राजते तव मुखाब्ज - मनल्पकान्ति,

विद्योतयज्-जगदपूर्व-शशाङ्क-बिम्बम्।18।

अन्वयार्थ : तव - आपका, मुखाब्जम् - मुख-कमल, नित्योदयम् - नित्य उदित रहने वाला है, दलित - नष्ट कर दिया है, मोह - मोह रूपी, महान्धकारम् - महान अंधकार को जिसने ऐसा तथा, अनल्पकान्ति - अत्यधिक कांति से युक्त है, न - नहीं, राहुवदनस्य - राहु के मुख के द्वारा, गम्यम् - नहीं ग्रसा जाता है, न वारिदानाम् - न मेघों के, जगत् - जगत को, विद्योतयज् - प्रकाशित करता हुआ, अपूर्व शशाङ्कबिम्बम् - अद्वितीय चन्द्रबिम्ब के समान, विभ्राजते - सुशोभित होता है।

अर्थ : हे भगवन्! हमेशा उदित, मोहान्धकार का नाशक, राहु को, बादलों को तिरस्कृत करने वाला आपका मुख-कमल तीनों लोक में अपूर्व कांति को लिये चन्द्र-मण्डल -सा सुशोभित होता है।

भावार्थ : हे भगवन्! आपका मुखकमल एक अद्भुत् चन्द्रमा है, क्योंकि चन्द्रमा तो केवल रात्रि में चमकता है और वह भी सिर्फ शुक्लपक्ष में, किन्तु आपका मुखचन्द्र तो सदा ही प्रकाशवान रहता है। चन्द्रमा तो मात्र सीमित क्षेत्र का अंधकार दूर करता है; पर आपका मुख-चन्द्र समस्त जगत का अज्ञान-मोहरूप अंधकार नष्ट करता है। चन्द्रमा को कभी राहु ग्रस लेता है, कभी बादल ढक लेते हैं, किन्तु आपके मुख-चन्द्र को कोई भी शक्ति आच्छादित नहीं कर सकती। चन्द्रमा की कांति बहुत अल्प है, परंतु आपके मुख-चन्द्र की कांति अनन्त है और सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करने वाली है, इसलिए आपका मुख एक अपूर्व चन्द्र-बिम्ब है।।18।।

अद्भुत मुखचन्द्र

किं शर्वरीषु शशिनाहिन विवस्वता वा,
युष्मन् - मुखेन्दु-दलितेषु तमःसु नाथ।
निष्पन्न-शालि-वनशालिनि जीवलोके,
कार्यं कियज्-जलधरै-र्जल-भारनम्रैः।।19।।

अन्वयार्थ : नाथ! - हे नाथ!, तमःसु - समस्त अंधकार, युष्मन्मुखेन्दु - आपके मुख चन्द्र द्वारा, दलितेषु - नष्ट कर दिये जाने पर, शर्वरीषु - रात्रि में, शशिना - चन्द्रमा से, किम् - क्या प्रयोजन है?, वा - और, अहिन - दिन में, विवस्वता - सूर्य से, किम् - क्या प्रयोजन है?, जीवलोके - संसार में, निष्पन्न-शालिवन-शालिनि - खेतों में धान्य के पक जाने पर, जल-भारनम्रैः - जल के भार से झुके हुए, जल-धरैः - मेघों से, कियत् - क्या, कार्यम् - काम अर्थात् कुछ नहीं।

अर्थ : हे नाथ! खेत में धान्य पक जाने पर बादलों का वर्षा के लिए झुकने से क्या लाभ? वैसे ही आपके मुखकमल से सभी अंधकार मिट गया तो अब दिन में रवि, रात्रि में शशि से क्या लाभ? अर्थात् कुछ नहीं।

भावार्थ : हे विश्वनाथ! जब आपका मुखचन्द्र अंधकार का नाश कर समग्र विश्व को प्रकाशित कर रहा है तो फिर रात्रि में चन्द्रमा की तथा दिन में सूर्य की क्या आवश्यकता रह जाती है। भला जब खेतों में धान्य पक चुका हो है, फिर जल से भरे

बिजली चमकते मेघों की क्या उपयोगिता है? अर्थात् आप सूर्यचन्द्र से भी अधिक प्रकाश युक्त हैं।।19।।

सूर्य-चन्द्र की अनुपयोगिता

ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं,
नैवं तथा हरि - हरादिषु नायकेषु।
तेजो महा-मणिषु याति यथा महत्त्वं,
नैवं तु काचशकले किरणाकुलेऽपि।।20।।

अन्वयार्थ : कृतावकाशं - पूर्ण रूप से विकसित, ज्ञानं - ज्ञान, यथा - जैसा, त्वयि - आप में, विभाति - सुशोभित हो रहा है, एवं तथा - वैसा ज्ञान, हरि-हरादिषु - ब्रह्मा, विष्णु, हरिहर, महेशादि, नायकेषु - देवों में, न - सुशोभित नहीं होता, यथा - जैसा, तेजः - तेज, महामणिषु - महामणियों में, महत्त्वम् - महत्त्व को, याति - प्राप्त होता है, तु - निश्चय से, तथा - वैसा महत्त्व, किरणाकुले अपि - सूर्य की किरणों से चमकते हुए भी, काचशकले - काँच के टुकड़ों में, न एवं विभाति - नहीं सुशोभित होता है।

अर्थ : हे जिनेन्द्र ! जो ज्ञान आप में शोभित है, ऐसा ज्ञान हरि-हरादिक देवों में नहीं दिखता, ठीक उसी प्रकार जो शोभा महामणियों में प्राप्त होती है, वह काँच के टुकड़ों में नहीं।

भावार्थ : हे भगवान् ! जैसा निर्मल, निर्बाध, संपूर्ण आत्मज्ञान आप में उद्भासित है, वैसा ज्ञान जगत् में किन्हीं अन्य देवों में नहीं देखा जाता। भला, जो अद्भुत कान्ति और प्रकाश बहुमूल्य मणियों में होता है, वैसी चमक सूर्य-किरणों से चमकने वाले काँच के टुकड़ों में कैसे संभव है? अर्थात् नहीं।।20।।

महामणियों जैसा ज्ञान

मन्ये वरं हरि-हरादय एव दृष्टा,
दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति।

किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः,
कश्चिन्मनो हरति नाथ! भवान्तरेऽपि।।21।।

अन्वयार्थ : नाथ! – हे भगवान्! मैंने, हरिहरादयः – हरि, हर आदि देवों को, दृष्टा – देखा, एव – वे ही, वरं – उत्तम हैं, मन्ये – ऐसा मैं मानता था, येषु – क्योंकि उनके, दृष्टेषु – देख लेने पर भी, हृदयम् – हृदय को, त्वयि – आप में, तोषम् – संतोष, एति – प्राप्त होता है अथवा, भवता – आपको, वीक्षितेन – देखने से, किम् – क्या, येन – जिससे कि, भुवि – भूमण्डल पर, अन्यः – अन्य, कश्चित् – कोई देव, भवान्तरे – जन्मान्तर में, अपि – भी, मनः – मेरे मन को, न हरति – हरण नहीं कर सकता है।

अर्थ : हे गुणनाथ! आपके दर्शन कर लेने के बाद अन्य हरिहर देवादि के दर्शन करने से हृदय संतुष्ट नहीं होता, किंचित् मन उनको देखने के लिए भी नहीं होता है। ये आपके स्वरूप का आकर्षण ही है।

भावार्थ : हे स्वामिन्! मैंने आपके दर्शन करने से पहले हरिहर आदि सरागी देवों को देख लिया, यह अच्छा ही किया; क्योंकि उनके देखने के बाद आपकी वीतराग मुद्रा के प्रति हृदय श्रद्धा से पूर्ण संतुष्ट हो गया है, किन्तु आपको देखने के बाद मेरा मन जन्म-जन्मान्तर में भी अन्यत्र/कुदेवादि में संतुष्ट नहीं हो सकता अर्थात् संसार में आपसे बढ़कर परम शान्त वीतराग देव अन्य कोई नहीं है। अतः आप ही सर्वोत्कृष्ट हैं।।21।।

आपकी जननी धन्य है

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,
नान्या सुतं त्व-दुपमं जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्र-रश्मिं,
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम्।।22।।

अन्वयार्थ : शतानि – सैकड़ों, स्त्रीणाम् – स्त्रियाँ, शतशः – सैकड़ों, पुत्रान् – पुत्रों को, जनयन्ति – जन्म देती हैं परन्तु, अन्या – अन्य कोई, जननी – माता,

त्वदुपमम् – आप जैसे, सुतं – पुत्र को, न प्रसूता – जन्म नहीं दे सकी, सर्वा – सभी, दिशः – दिशाएँ, भानि – ताराओं को, दधति – धारण करती हैं किन्तु, स्फुरत् – दैदीप्यमान्, अंशुजालम् – किरणों के समूह वाले, सहस्ररश्मि – सूर्य को, प्राची – एक पूर्व, दिक् एव – दिशा ही, जनयति – उत्पन्न करती है।

अर्थ : हे प्रभु! सूर्य को केवल पूर्व दिशा ही प्रकट कर पाती है, अन्य दिशाएँ नहीं; वैसे ही अन्य सैकड़ों स्त्रियाँ, सैकड़ों पुत्र उत्पन्न कर सकती हैं; लेकिन आप जैसा लाल केवल आपकी माँ को ही प्राप्त हुआ है।

भावार्थ : हे नाथ! जिस प्रकार सभी दिशाएँ असंख्य तारों / नक्षत्रों को धारण करती हैं; परन्तु अद्भुत प्रकाशमान सूर्य को तो केवल पूर्व दिशा ही प्रकट करती है; उसी प्रकार संसार में अनेकों स्त्रियाँ अनेकों पुत्रों को जन्म देती हैं, किन्तु आपके समान महाप्रतापी पुत्ररत्न को तो सिर्फ एक ही माता ने जन्म दिया अर्थात् अन्य कोई दूसरा आपके समान नहीं है। 122 ।।

शिरोरोग-नाशक

त्वा - मामनन्ति मुनयः परमं पुमांस -
मादित्य-वर्ण-ममलं तमसः पुरस्तात्।
त्वामेव सम्यगुप-लभ्य जयन्ति मृत्युं,
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र पन्थाः ।। 123 ।।

अन्वयार्थ : मुनीन्द्र! – हे मुनीश्वर!, मुनयः – मुनिजन, त्वाम् – आपको, आदित्य-वर्णम् – सूर्य के समान तेजस्वी, अमलम् – निर्मल, तमसः पुरस्तात् – अंधकार से रहित, परमम् – सर्वश्रेष्ठ, पुमांसम् – पुरुष, आमनन्ति – मानते हैं और, त्वाम् एव – आपको ही, सम्यक् – भली-भाँति, उपलभ्य – प्राप्त करके, मृत्युम् – मृत्यु को, जयन्ति – जीतते हैं अतः आपके बिना, शिव-पदस्य – मोक्ष पद का, अन्यः – दूसरा, शिवः – कल्याणकारी, पन्थाः – मार्ग, न अस्ति – नहीं है।

अर्थ : हे प्रभु! तपस्वी जन आपको सूर्य के समान निर्मल मानते हुए आपको हृदय

में पाकर मृत्यु पर विजय पा लेते हैं। इसके अलावा दूसरा मोक्षपथ का कोई रास्ता नहीं है।

भावार्थ : हे मुनियों के आराध्य ! सभी मुनिजन आपको तेजोमय परम पुरुष मानते हैं। आप राग-द्वेष के मल से रहित हैं, अज्ञान-अंधकार से सर्वथा दूर हैं। आपके द्वारा प्रदर्शित मार्ग को जान-समझकर, अनुगमन कर अंतःकरण की शुद्धि होने पर साधक आपके दर्शन करके मृत्यु को अर्थात् साक्षात् यमराज को भी पराजित कर देते हैं। प्रभो ! आपकी भक्ति ही शिव अर्थात् मुक्ति का मंगल मार्ग है।। 23 ।।

सहस्र नाम से स्तुति

त्वामव्ययं विभु-मचिन्त्य-मसंख्य-माद्यं,
ब्रह्माण - मीश्वर - मनन्त - मनङ्ग - केतुम्।
योगीश्वरं विदित - योग - मनेक - मेकं
ज्ञान-स्वरूप-ममलं प्रवदन्ति सन्तः।।24।।

अन्वयार्थ : सन्तः - संत/सज्जन पुरुष, त्वाम् - आपको, अव्ययम् - अक्षय, विभुम् - ज्ञान रूप से व्यापक, अचिन्त्यम् - चिन्तन में नहीं आने वाले, असंख्यम् - असंख्य गुणों से युक्त, आद्यम् - प्रथम्, ब्रह्माणम् ईश्वरम् - ब्रह्म/ईश्वर, अनन्तम् - अनन्त, अनङ्गकेतुम् - काम विनाशक (कामरूपी बाण को नष्ट करने वाले), योगीश्वरम् - योगियों के ईश्वर, विदित-योगम् - योग के ज्ञायक, अनेकम् - गुण-पर्याय की अपेक्षा अनेक रूप, एकम् - जीव द्रव्य की अपेक्षा एक रूप, ज्ञानस्वरूपम् - केवलज्ञानस्वरूप, अमलं - कर्ममल से रहित/निर्मल, प्रवदन्ति - कहते हैं।

अर्थ : हे जिनेश्वर ! सज्जन लोग आपको अव्यय, विभु, अचिन्त्य आदि, ब्रह्मा, ईश्वर, अनंत, अनङ्गकेतु, योगीश्वर, विदितयोग, अनेक, एक, ज्ञानस्वरूप और निर्मल कहते हैं।

भावार्थ : हे प्रभो ! संसार के सभी संत आपके विभिन्न स्वरूपों की स्तुति करते हैं। जैसे आप अव्यय हो/ अविनाशी हो, आप विभु हो/ज्ञानदृष्टि से सर्वव्यापक हो, अचिन्त्य हो / मन की चिन्तनधारा से भी परे हो, असंख्य हो / आपके गुणों की गणना नहीं

हो पाती है, आदिपुरुष हो / धर्म को प्रारम्भ करने वाले हो, ब्रह्मा हो / शाश्वत आनंदमय हो, ईश्वर हो। आत्म-ऐश्वर्य से सम्पन्न हो, अनंत हो। आपके ज्ञान-दर्शन आदि गुणों का पार नहीं है, अनंगकेतु हो। काम का नाश करने के लिये धूमकेतु के समान हो, योगीश्वर हो / योगियों के आराध्य हो, विदित योग हो / योग मार्ग के सम्पूर्ण ज्ञाता हो, अनेक हो / आप गुण-पर्यायों की अपेक्षा अनेकरूप हो, एक हो / अद्वितीय हो, ज्ञानमय हो / शुद्ध चैतन्य स्वरूप हो, अमल हो / काम, क्रोध आदि विकारों से रहित हो।।24।।

आपके अनेक नाम

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित-बुद्धि-बोधात्,
त्वं शङ्करोऽसि भुवन-त्रय-शङ्करत्वात्।
धातासि धीर! शिवमार्ग-विधेर्विधानात्,
व्यक्तं त्वमेव भगवन्! पुरुषोत्तमोऽसि।।25।।

अन्वयार्थ : विबुध - देवताओं के द्वारा, अर्चित - पूजित, बुद्धि-बोधात् - केवलज्ञानी होने से, त्वम् एव - आप ही, बुद्धः - बुद्ध हो, भुवनत्रय - तीनों भुवनों में, शंकरत्वात् - सुख शांति करने से, त्वम् - तुम ही, शंकरः - शंकर, असि - हो, धीर - हे धीर वीर!, शिवमार्ग - मोक्षमार्ग की, विधेःविधानात् - विधि के विधान करने से, त्वं धातासि - तुम ही विधाता/ब्रह्मा, असि - हो इस प्रकार, भगवन् - हे भगवन्!, व्यक्तं - स्पष्ट रूप से, त्वम् एव - आप ही, पुरुषोत्तमः - पुरुषोत्तम/विष्णु, असि - हो।

अर्थ : हे भगवान्! केवलज्ञान होने से आप ही बुद्ध हो। सुख-शांति देने वाले होने से आप ही शंकर हो। सत्य पथ देने के कारण आप ही ब्रह्मा हो। निर्मोह व परम अहिंसक होने से आप ही पुरुषोत्तम हो।

भावार्थ : हे देवों के द्वारा पूज्य! आप में बुद्धि का (ज्ञान का) पूर्ण रूप से विकास हुआ है, अतः आप ही बुद्ध हो। तीनों लोकों के जीवों का शं (कल्याण करने वाले होने से) आप ही शंकर हो, रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग की विधि के विधाता (उपदेश देने वाले) होने से आप ही ब्रह्मा हो, संसार के समस्त प्राणियों के मन में प्रकट होने से आप ही विष्णु का रूप हो और समस्त पुरुषों के श्रेष्ठ पुरुषोत्तम भी आप ही हो।।25।।

आपको नमस्कार हो

तुभ्यं नमस् त्रिभुवनार्ति-हराय नाथ!
तुभ्यं नमः क्षितितलामल-भूषणाय ।
तुभ्यं नमस-त्रिजगतः परमेश्वराय ।
तुभ्यं नमो जिन! भवोदधिशोषणाय ॥26॥

अन्वयार्थ : नाथ! – हे स्वामिन्! त्रिभुवन – तीनों भुवनों की, अर्तिहराय – पीड़ा को नष्ट करने वाले, तुभ्यं – आपको, नमः – नमस्कार हो, क्षितितल – पृथ्वीतल के, अमल-भूषणाय – निर्मल आभूषण, तुभ्यं – आपको, नमः – नमस्कार हो, त्रिजगतः – तीनों जगत के, परमेश्वराय – परमेश्वर, तुभ्यं – आपको, नमः – नमस्कार हो, जिन – हे जिनेन्द्र! भवोदधि – संसार-सागर को, शोषणाय – सुखाने वाले, तुभ्यं – आपको, नमः – नमस्कार हो ।

अर्थ : हे महादेव! आप त्रयलोक के विपत्ति-नाशक हो, पृथ्वीतल के विमल आभूषण हो, त्रिभुवन के स्वामी हो एवं संसार-समुद्र को सुखाने वाले हो, अतः आपके लिए मेरा नमस्कार होवे ।

भावार्थ : हे नाथ! आपने तीनों लोकों के कष्टों को समाप्त कर दिया है, आप भूमण्डल के निर्मल भूषण हैं, आप तीनों लोकों के परमेश्वर हैं और आपने जन्म-जरा-मृत्यु रूप संसार-समुद्र को सुखा दिया है, नष्ट कर दिया है। अतः मैं आपको बारम्बार नमस्कार करता हूँ ॥ 26 ॥

शत्रु-उन्मूलक

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषैस्,
त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश! ।
दोषै - रुपात्त विविधाश्रय जात-गर्वैः,
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ॥27॥

अन्वयार्थ : मुनीश! – हे मुनियों के ईश्वर । यदि नाम – यदि नाम के होने पर,

त्वम् – आप, निरवकाशतया – निरन्तर आने वाले, अशेषैः – समस्त, गुणैः – गुणों के द्वारा, संश्रितः – आश्रय को प्राप्त हुए तो, अत्र – इसमें, कः – कौन-सा, विस्मयः – आश्चर्य है?, उपात्त – प्राप्त किया है, विविध – अनेक पुरुषों का, आश्रय – आश्रय जिन्होंने, अतएव, जातगर्वैः – अहंकार को प्राप्त, दोषैः – दोषों के द्वारा, कदाचित् अपि – कभी भी, स्वप्नान्तरे अपि – स्वप्न दशा में भी, न ईक्षितः असि – नहीं देखे गये हो, अत्रापि कः विस्मयः – इसमें भी क्या आश्चर्य है? कोई आश्चर्य नहीं है।

अर्थ : हे नाथ! गुणों को उत्तम स्थान कहीं न मिला, इसलिए वे सभी आपके पास आकर समा गये और दोषों को आपके पास कोई स्थान न मिला, अतः स्वप्न में भी दोषों ने आपको नहीं छुआ। यह बहुत अद्भुत दृश्य है आपका।

भावार्थ : हे मुनीश्वर! संसार में जितने सद्गुण हैं, वे सभी आप में आश्रय पा चुके हैं। अतएव आप में दोषों को बिलकुल स्थान नहीं मिला। इस कारण वे दुर्गुण दूसरी जगह चले गये। दूसरे व्यक्तियों ने उन दुर्गुणों को दृढ़ता से अपना लिया। अतः वे मिथ्या गर्व से युक्त होते हुए पुनः लौटकर कभी भी आपकी ओर नहीं आये। अर्थात् संसार के समस्त सद्गुण आप में विद्यमान हैं तथा जो आप से विमुख हैं, वे आसुरी वृत्तियों के कारण सभी दुर्गुणों के केन्द्र बन गये हैं।।27।।

अशोक वृक्ष प्रातिहार्य

उच्चै-रशोक तरु संश्रित-मुन्मयूख,
माभाति रूप - ममलं भवतो नितान्तम्।
स्पष्टोल्लसत् किरण-मस्त तमो वितानं,
बिम्बं रवेरिव पयोधर पार्श्ववर्ति।।28।।

अन्वयार्थ : उच्चैः – ऊँचे, अशोकतरु – अशोक वृक्ष के नीचे, संश्रितम् – विराजमान, उन्मयूखम् – जिसकी किरणें ऊपर की ओर जा रही हैं ऐसा, भवतः – आपका, नितान्तम् – अत्यन्त, अमलम् – निर्मल, रूपम् – स्वरूप, स्पष्ट – स्पष्ट रूप से, उल्लसत् – चमकती हुई, किरणम् – किरणों वाले तथा, अस्ततमोवितानम् – अंधकार के विस्तार को नाश करने वाले, पयोधर – मेघों के, पार्श्ववर्ति – समीपवर्ती,

रवेः बिम्बम् – सूर्य के बिम्ब के, **इव** – समान, **आभाति** – शोभायमान हो रहा है

अर्थ : हे आदि प्रभो ! ऊँचे हरे-भरे अशोक वृक्ष के नीचे आपका स्वर्ण जैसा तन ऐसा लगता है, मानो काले मेघों के बीच जगमगाता सूर्य ही निकल आया हो।

भावार्थ : हे प्रभो ! जिस प्रकार सघन बादलों के बीच में चमकती हुई किरणों से अन्धकार को नष्ट करता हुआ सूर्य मण्डल शोभित होता है, उसी प्रकार हे प्रभो ! समवशरण में अशोक वृक्ष के नीचे विराजित आपकी निर्मल देह से निःसृत चमकती हुई किरणें ऊपर की ओर जाती हैं, तब आपका रूप अतीव भव्य प्रतीत होता है। अर्थात् शरीर की स्वर्णप्रभा, अशोक वृक्ष के नीले पत्तों पर गिरने से रंगों की एक अतीव मनोहर छटा-सी खिल जाती है। यह अशोक प्रातिहार्य का वर्णन है। 128 ।।

सिंहासन प्रातिहार्य

सिंहासने मणि मयूख शिखा विचित्रे,
विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम्।
बिम्बं वियद् विलसदंशुलता वितानं,
तुंगोदयाद्रि-शिरसीव सहस्र-रश्मेः ॥ 129 ॥

अन्वयार्थ : मणिमयूख – मणियों की किरणों के, शिखाविचित्रे – अग्रभाग की पंक्ति से शोभित, सिंहासने – सिंहासन पर, तव – आपका, कनकावदातम् – स्वर्ण के समान स्वच्छ, वपुः – शरीर, तुंगोदयाद्रि – ऊँचे उदयाचल के, शिरसि – शिखर पर, वियद् विलसत् – आकाश में शोभित, अंशुलतावितानम् – किरण रूप लता समूह वाले, सहस्ररश्मेः – सूर्य के, बिम्बम् – बिम्ब के, इव – समान, विभ्राजते – अत्यधिक शोभायमान हो रहा है।

अर्थ : हे प्रभो ! उदयाचल की चोटी पर सूर्य बिम्ब जैसा लगता है, वैसा आपका मनोहर शरीर सिंहासन पर सोने जैसा सुशोभित होता है।

भावार्थ : हे जिनेन्द्र ! जिस प्रकार ऊँचे उदयाचल पर्वत के शिखर पर उदित होता सूर्य, चारों ओर फैली हुई स्वर्णवर्णी किरणों से आकाश में सुशोभित होता है। हे भगवन् !

उसी प्रकार मणियों की रंग-बिरंगी किरणों से दीपित, ऊँचे सिंहासन पर आसीन आपका सुवर्ण के समान दैदीप्यमान स्वच्छ शरीर अतीव प्रभास्वर और मनोहारी लगता है। यह सिंहासन प्रातिहार्य का वर्णन है। 129।।

चँवर प्रातिहार्य

कुन्दावदात चल-चामर चारु-शोभं,
विभ्राजते तव वपुः कलधौत कान्तम्।
उद्यच्छशांक शुचि निर्झर वारिधार- ,
मुच्चैस्तटं सुर गिरे-रिव शातकौम्भम्।।30।।

अन्वयार्थ : कुन्दावदात - कुन्द पुष्प के समान निर्मल श्वेत, चल-चामर - हिलते हुए चँवर की, चारुशोभम् - सुन्दर शोभा से युक्त, कलधौत - सुवर्ण के समान, कान्तम् - कांतिवाला, तव - आपका, वपुः - शरीर, उद्यच्छशांक - उदय होते हुए चन्द्रमा के समान, शुचिनिर्झर - निर्मल झरनों की, वारिधारम् - जलधारा से युक्त, सुरगिरेः - सुमेरु पर्वत के, शातकौम्भम् - सुवर्णमयी, उच्चैस्तटम् - ऊँचे तट के, इव - समान, विभ्राजते - सुशोभित हो रहा है।

अर्थ : हे प्रभो! आपकी स्वर्णमयी काया पर श्वेत, सुन्दर चँवर ढोरे जा रहे हैं। ऐसा लगता है कि मेरुपर्वत पर कोई चन्द्रकांति-सा जल का झरना ऊपर से गिर रहा हो।

भावार्थ : हे प्रभो! आपकी स्वर्ण समान आभा वाली देह के दोनों ओर, कुन्द पुष्प के समान अत्यन्त उज्ज्वल दोलायमान चँवर देखकर मुझे ऐसा लगता है, मानो स्वर्णगिरि (सुमेरु पर्वत) के दोनों शिखरों से चन्द्र-किरणों के समान उज्ज्वल निर्मल जल के झरने बहते जा रहे हों। यह चँवर प्रातिहार्य का वर्णन है।।30।।

छत्र त्रय प्रातिहार्य

छत्र-त्रयं तव विभाति शशांक-कांत- ,
मुच्चैः स्थितं स्थगित भानुकर प्रतापम्।
मुक्ताफल प्रकर जाल विवृद्ध शोभं,
प्रख्यापयत्-त्रिजगतः परमेश्वरत्वम्।।31।।

अन्वयार्थ : उच्चैः स्थितम् – ऊपर स्थित, शशांक-कांतम् – चन्द्रमा के समान कांतिवाले, स्थगित – रोक दिया है, भानुकर – सूर्य की किरणों के, प्रतापम् – प्रचण्ड ताप को जिन्होंने ऐसे तथा, मुक्ताफल – मोतियों के, प्रकरजाल – समूह वाली झालर से, विवृद्धशोभम् – बढ़ रही है शोभा जिनकी ऐसे, छत्रत्रयम् – तीन छत्र, तव – आपके, त्रिजगतः – तीनों जगत की, परमेश्वरत्वम् – परमेश्वरता को, प्रख्यापयत् – प्रकट करते हुए, विभाति – शोभायमान हो रहे हैं।

अर्थ : हे नाथ! चन्द्रकांति के समान तीन छत्र आपके ऊपर सूर्यताप रोकते हुए शोभित हो रहे हैं। मोतियों के समूह से खचित छत्र तीनों लोक की ईश्वरता को प्रकट कर रहे हैं।

भावार्थ : हे प्रभो! आपके मस्तक पर तीन छत्र शोभित होते हैं। ये छत्र चन्द्रमा की भाँति सौम्य / शुभ्र मोतियों की झालर से शोभा पा रहे हैं। इन छत्रों ने प्रचण्ड सूर्य रश्मियों के आतप को रोक लिया है और वास्तव में ये तीनों छत्र आपकी तीन लोकव्यापी प्रभुता और परमेश्वरता के सूचक हैं। यह छत्रत्रय प्रातिहार्य का वर्णन है।।31।।

दुन्दुभि प्रातिहार्य

गंभीर-तार-रव-पूरित - दिग्विभागस्,
त्रैलोक्य लोक शुभ संगम भूति दक्षः।
सद्-धर्मराज जयघोषण घोषकः सन्,
खे दुन्दुभि-ध्वनति ते यशसः प्रवादी।।32।।

अन्वयार्थ : गम्भीर – गम्भीर, तार-रव-पूरित – उच्च सघन शब्द से पूर दिया है, दिग्विभागः – दिशाओं के विभाग को जिसने ऐसा, त्रैलोक्य – तीनों लोकों के, लोक – प्राणियों को, शुभ – शुभ, सङ्गम – समागम की, भूति – विभूति देने में, दक्षः – कुशल, सद्धर्मराज – तीर्थकर देव की, जयघोषण – जय घोषणा को, घोषकः – घोषित करने वाला, दुन्दुभिः – दुन्दुभि वाद्य (नगाड़ा), ते – आपके, यशसः – यश को, प्रवादी – सब ओर कोलाहल करता, सन् – हुआ, खे – आकाश में, ध्वनति – शब्द कर रहा है।

अर्थ : हे प्रभो! शुभसमागम प्रदात्री, दिशाओं को गुँजानेवाली, सत्यधर्म व आपका सुयश प्रकट करने वाली दुन्दुभि आकाश में आपकी जय बोलती हुई प्रतीत होती है।

भावार्थ : हे प्रभो! आप जब समवशरण में विराजते हैं, तब देवगण आकाश में दुन्दुभि बाजे बजाते हैं। उस गम्भीर घोष से दशों दिशायें गुँज जाती हैं। दुन्दुभि बाजे का यह उद्घोष जैसे तीनों लोकों के प्राणियों को कल्याण की प्राप्ति के लिए आह्वान कर रहा है (कि हे जगत के प्राणियो। आओ, सच्चा कल्याण मार्ग प्राप्त करो) तथा आपके द्वारा कथित सद्धर्म का जय-जयकार भी सभी दिशाओं में गुँज रहा है। यह दुन्दुभि प्रातिहार्य का वर्णन है। 132 ।।

पुष्पवृष्टि प्रातिहार्य

मंदार - सुन्दर - नमेरु - सुपारिजात - ,
संतानकादि कुसुमोत्कर वृष्टि-रुद्धा।
गंधोद-बिन्दु-शुभ-मन्द-मरुत्-प्रपाता,
दिव्या दिवः पतति ते वचसां ततिर्वा। 133 ।।

अन्वयार्थ : गन्धोदबिन्दु - सुगंधित जल बिन्दुओं से युक्त, शुभमन्द - शुभ मन्द-मन्द, मरुत्प्रपाता - वायु के साथ गिरती हुई, उद्धा - श्रेष्ठ (ऊर्ध्वमुखी), दिव्या - दिव्य, मन्दार - मन्दार जाति के, सुन्दर - सुन्दर जाति के, नमेरु - नमेरु जाति के, सुपारिजात - परिजात जाति के और, सन्तानकादि - सन्तानक आदि जाति के, कुसुमोत्करवृष्टिः - कल्पवृक्षों के पुष्पों के समूह की वर्षा, ते - आपके, वचसां - वचनों की, ततिः वा - पंक्ति के समान, दिवः - आकाश से, पतति - पड़ती है / गिरती है।

अर्थ : हे प्रभो! सुगंधित पुष्पों की वर्षा सुगंधित जल से मिलकर मनोहारी ऐसी लगती है, मानो भगवान के वचनों की पंक्ति आकाश से गिर रही हो।

भावार्थ : हे भगवान्! आपके समवशरण में जब देवगण आकाश से मन्दार, सुन्दर, नमेरु, पारिजात, सन्तानक आदि दिव्य वृक्षों के सुन्दर पुष्प और सुगंधित जल (गंधोदक) की वर्षा करते हैं, तब मन्द-मन्द पवन के झोंकों से हिलोर खाते वे ऐसे भव्य प्रतीत होते हैं, मानो आपके श्रीमुख से वचनरूपी दिव्य पुष्प ही बरस रहे हों। यह पुष्पवृष्टि प्रातिहार्य का वर्णन है। 133 ।।

भामण्डल प्रातिहार्य

शुम्भत् प्रभा-वलय भूरि विभा विभोस्ते,
लोक त्रये द्युतिमतां द्युति - माक्षिपन्ति ।
प्रोद्यद् दिवाकर निरन्तर भूरि संख्या,
दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सोमसौम्याम् ॥ 34 ॥

अन्वयार्थ : लोकत्रये - तीनों लोकों में, द्युतिमतां - सभी कांति वाले पदार्थों की, द्युतिम् - कांति को, आक्षिपन्ति - तिरस्कार करती हुई, ते विभोः - आपके, शुम्भत् - प्रकाशमान, प्रभावलय - भामण्डल का, भूरि विभाः - अतिशय प्रभाव, प्रोद्यद् दिवाकर - उदित होते हुए सूर्य की, निरन्तर - निरन्तर, भूरि संख्या - भारी संख्या वाले तथा, सोमसौम्याम् - चन्द्र के समान शोभायमान और अपनी, दीप्त्या अपि - कांति से, निशाम् अपि - रात्रि को भी, जयति - जीत रहा है।

अर्थ : हे प्रभो! तीनों लोकों की कांति को तिरस्कृत करता हुआ, सात भवों को स्पष्ट दिखाता हुआ चन्द्रकांति-सम शीतलतादायी आपका भामण्डल प्रचुर मात्रा में शोभा को प्राप्त हो रहा है, जो अद्भुत कांति लिये हुए है।

भावार्थ : हे प्रभो! आपका अत्यन्त प्रकाशमान उज्ज्वल आभामण्डल संसार की समस्त प्रभावान् वस्तुओं से अधिक प्रभास्वर है। उसकी विलक्षणता तो यह है कि वह उदित हुए अनेकानेक सूर्यों के तेज से अधिक प्रचण्ड होने पर भी पूर्णमासी के चन्द्रमा से अधिक शीतलता सौम्यता प्रदान करने वाला है तथा अपनी कांति से रात्रि के अन्धकार को भी जीत रहा है। यह भामण्डल प्रातिहार्य का वर्णन है ॥ 34 ॥

दिव्यध्वनि प्रातिहार्य

स्वर्गापवर्ग गममार्ग विमार्गणेष्टः,
सद्धर्म तत्त्व कथनैक पटुस् त्रिलोक्याः ।
दिव्यध्वनि - भवति ते विशदार्थ सर्व - ,
भाषा-स्वभाव परिणाम गुणैः प्रयोज्यः ॥ 35 ॥

अन्वयार्थ : स्वर्ग-स्वर्ग के और, अपवर्ग - मोक्ष के गम-मार्ग - जाने के मार्ग को, विमार्गणेष्टः - अन्वेषण करने में अभीष्ट, त्रिलोक्याः - तीनों लोकों को /

त्रिकालवर्ती, **सद्धर्मतत्त्व** – समीचीन धर्म के तत्त्व को, **कथनैकपटुः** – कथन करने में अत्यन्त समर्थ, **विशदार्थ** – विशद अर्थ और, **सर्वभाषा** – सभी भाषाओं के, **स्वभावपरिणाम** – स्वभाव में परिणत होने के, **गुणैः** – गुणों से, **प्रयोज्यः** – युक्त ऐसी, ते, **दिव्यध्वनिः** – आपकी दिव्यध्वनि, **भवति** – होती है।

अर्थ : हे प्रभो! सभी को स्वर्ग व मोक्ष का उपदेश देने में समर्थ एवं सभी भाषाओं वाली आपकी ओंकार रूपी दिव्यध्वनि स्वभाव से ही परिणमन करने वाली होती है।

भावार्थ : हे भगवान्! आपकी दिव्यध्वनि, सब जीवों को स्वर्ग और मोक्ष का मार्ग बताने में सक्षम है। समस्त प्राणियों को सत्य धर्म का रहस्य समझाने में कुशल है, गम्भीर अर्थ वाली होकर भी अत्यन्त स्पष्ट है, और जगत् के सभी जीवों को अपनी-अपनी भाषा के अनुरूप परिणत होने के विलक्षण गुण वाली है। यह दिव्यध्वनि प्रातिहार्य का वर्णन है। 135 ।।

स्वर्ण कमलों की रचना

उन्निद्र-हेम-नव-पंकज-पुञ्ज-कान्ति-,
पर्युल्लसन्नख - मयूख - शिखाभिरामौ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र! धत्तः,
पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति।।36।।

अन्वयार्थ : उन्निद्र-खिले हुए, हेम-स्वर्ण के, नव-नवीन, पंकज-कमलों के, पुंज-समूह के समान, कान्ति-कान्ति वाले, पर्युल्लसन् - सर्व ओर फैलने वाली, नखमयूख-नखों की किरणों के, शिखाभिरामौ-अग्रभाग से सुन्दर, जिनेन्द्र!- जिनेन्द्र देव, तव-आपके, पादौ-चरण, यत्र-जहाँ पर, पदानि-कदम, धत्तः-रखते हैं, तत्र-वहाँ पर, विबुधाः- देवगण, पद्मानि - कमलों की, परिकल्पयन्ति-संरचना करते जाते हैं।

अर्थ : हे जिनेन्द्र! भव्य जीवों के सौभाग्य से अनिच्छित जब आपका विहार होता है तो देवगण आपके चरणों के नीचे खिले कमल बिछा देते हैं जो अति सुन्दर लगते हैं।

भावार्थ : हे जिनेन्द्रदेव! आपके चरण नव विकसित स्वर्ण कमल के समान कान्ति वाले हैं। उनके नखों से चारों ओर मनोहर किरणें फैल रही हैं। विहार करते समय जहाँ - जहाँ आपके चरण-कमल पड़ते हैं। वहाँ-वहाँ पर, देवगण सुवर्णमय कमलों की

दिव्य रचना करते जाते हैं।।36।।

आप - अद्वितीय विभूति

इत्थं यथा तव विभूति - रभूज्-जिनेन्द्र!

धर्मोपदेशन विधौ न तथा परस्य।

यादृक् - प्रभा दिनकृतः प्रहतान्धकारा,

तादृक् कुतो ग्रहगणस्य विकासिनोऽपि।।37।।

अन्वयार्थ : जिनेन्द्र! - हे प्रभो! तव - आपके, धर्मोपदेशनविधौ - धर्मोपदेश देने के समय, इत्थं - इस प्रकार, यथा-जैसी आठ प्रातिहार्य रूप, विभूतिः - सम्पत्ति - ऐश्वर्य, अभूत् - हुई थी, तथा - वैसी, परस्य - अन्य किसी देव की, न - नहीं हुई, प्रहतान्धकारा - अंधकार को नाश करने वाली, यादृक् - जैसी, प्रभा - प्रभा, दिनकृतः - सूर्य की होती है, तादृक् - वैसी, विकासिनः - चमकते हुए, अपि - भी, ग्रहगणस्य - तारा गणों की, कुतः - कैसे हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती है।

अर्थ:- हे प्रभो! धर्मोपदेश के समय में समवशरण जैसी विभूति आपके अलावा अन्य कोई देवों में नहीं दिखती, सो ठीक है, क्या सूर्य जैसी कांति नक्षत्रों में होती है? नहीं।

भावार्थ : हे जिनेन्द्र देव! धर्मोपदेश के समय आपकी जैसी दिव्य विभूतियाँ होती हैं, वैसी अन्य देवों को कभी प्राप्त नहीं होती। यह ठीक भी तो है अंधकार का नाश करने वाले सूर्य की जैसी प्रभा होती है वैसी प्रभा सामान्य रूप से चमकते हुए तारा, नक्षत्र आदि की कैसे हो सकती है?।। 37।।

हस्ती भय निवारक भक्ति

श्च्योतन् मदाविल-विलोल-कपोलमूल-,

मत्त - भ्रमद् भ्रमर-नाद-विवृद्ध - कोपम्।

ऐरावताभ - मिभ - मुद्धत - मापतन्तं,

दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानां।।38।।

अन्वयार्थ : श्च्योतन् - झरते हुए, मदाविल - मद से मलिन, विलोल - चंचल, कपोलमूल - गण्डस्थल पर, मत्त - उन्मत्त, भ्रमद् - परिभ्रमण करते हुए, भ्रमर

- भौरों के, नाद - शब्द से, विवृद्धकोपम् - जिनका क्रोध बढ़ रहा है ऐसे, ऐरावताभम् इभम् - ऐरावत हाथी के समान विशाल, - आपतन्तं - सामने आते हुए, उद्धतं - अभिमानी, इभम् - हाथी को, दृष्ट्वा - देखकर, भवदाश्रितानां - आपके आश्रित जनों को, भयं - भय, नो - नहीं, भवति - होता है। 138।।

अर्थ : हे भगवन्! उन्हें मद व क्रोध से उन्मत्त हुआ हाथी भी नहीं डरा पाता, जो मनुष्य आपका आश्रय ले लेते हैं।

भावार्थ : हे प्रभो! आपकी शरण (आश्रय) लेने वाले सदा / हमेशा भय से रहित रहते हैं। यानि उन्हें किसी भी बात का डर नहीं होता। ऐरावत के समान विशालकाय हाथी, जिसके चंचल कपोलों पर मद झर-झर कर बह रहा हो और मद पीने के लिए मँडराने वाले भौरों के शब्द से जो अत्यंत क्रुद्ध होकर अँगारे-सी लाल आँखें किए आक्रमण करने सामने आ रहा हो, वह मत्त गजराज भी जब आपके ध्यान में लीन रहने वाले को देखता है तो उसका समूचा मद शान्त हो जाता है और आज्ञाकारी सेवक की भाँति आचरण करने लगता है अर्थात् आपके शरणागत को मदोन्मत्त हाथियों से भी कोई भय नहीं होता है। 138।।

सिंह-भय से मुक्त जिनेन्द्र भक्ति

भिन्नेभ कुम्भ गलदुज्ज्वल शोणिताक्त,

मुक्ताफल - प्रकर-भूषित-भूमि-भागः।

बद्ध - क्रमः क्रमगतं हरिणाधिपोऽपि,

नाक्रामति क्रम - युगाचल-संश्रितं ते। 139।।

अन्वयार्थ : भिन्नेभ - विदारण किये गये हाथी के, कुम्भगलद्-मस्तक से झरते हुए, उज्ज्वल-उज्ज्वल वर्ण वाले, शोणिताक्त - रक्त से सने हुए, मुक्ताफल - मोतियों के, प्रकर - समूह से, भूषित - सुशोभित किया है, भूमिभागः - भूमिभाग को जिसने ऐसा, हरिणाधिपः अपि - मृगराज (सिंह) भी, क्रमगतं - पंजों के मध्य में पड़े हुए किन्तु, ते - आपके, क्रमयुगाचल - चरण युगल रूपी पर्वत के, संश्रितम् - आश्रित पुरुष पर, बद्धक्रमः - बँधे हुए पैरों वाला जैसा होकर, न आक्रामति - आक्रमण नहीं करता है।

अर्थ : हे प्रभो! शिकार के आवेग से भरा वह शेर भी उसका शिकार नहीं कर पाता, जो आपके द्वय चरण की शरण ले लेता है।

भावार्थ : हे भगवन्! जिसने बड़े-बड़े हाथियों के कुम्भस्थल को चीरकर रक्त की धारा बहा दी और जमीन पर रक्त रंजित उज्ज्वल गज मुक्ताओं का ढेर लगा दिया हो, ऐसा अत्यंत भयंकर क्रुद्ध सिंह भी, हे प्रभो! जब आपके चरण युगल रूपी पर्वत का आश्रय लेने वाले भक्तों को सामने देखता है, तो शान्त होकर उनके चरणों में बैठ जाता है अर्थात् आपके भक्त भयंकर सिंहों के भय से मुक्त रहते हैं।।39।।

नाम स्मरण से दावानल शमन

कल्पान्तकाल पवनोद्धत - वह्नि कल्पं,
दावानलं ज्वलितमुज्ज्वल-मुत्स्फुलिंगम्।
विश्वं जिघत्सुमिव सम्मुख - मापतन्तं,
त्वन्नाम कीर्तन जलं शमयत्यशेषम्।।40।।

अन्वयार्थ : कल्पान्तकाल-प्रलयकाल के, पवनोद्धत - पवन से उत्तेजित, वह्निकल्पम् - अग्नि के सदृश्य, दावानलम् - जंगल की आग, ज्वलितम् - जलती हुई, उज्ज्वल- उज्ज्वल और, उत्स्फुलिंगम् - ऊपर को फुलिंगों उड़ाने वाली, इव - मानो, विश्वम् - समस्त संसार को, जिघत्सुम् -दावाग्नि को (जंगल की आग को), सम्मुखम्-आपतन्तम् - सामने आती हुई, त्वन्नामकीर्तनजलम् - आपका नामोच्चारण रूप जल, अशेषम् - पूर्ण रूप से, शमयति - शान्त कर देता है।

अर्थ : हे भगवन्! भयभीत करने वाली प्रलयकाल की प्रचण्ड अग्नि यदि सामने आती हुई हो तो आपके नाम रूपी जल से तुरन्त नष्ट हो जाती है।

भावार्थ : हे भगवन्! भीषण दावानल, जो प्रलयकालीन महावायु के समान प्रचण्ड वायु से प्रज्वलित हुआ, आकाश में चिनगारियाँ फेंक रहा हो जैसे कि अपनी ज्वालाओं से सम्पूर्ण विश्व को भस्म कर देना चाहता हो, वह प्रचण्ड दावानल भी, हे प्रभो! आपके नाम स्मरण रूपी जलधारा से क्षण भर में ही शांत हो जाता है अर्थात् आपके भक्त अग्नि भय से मुक्त रहते हैं।।40।।

भुजंग भयहारी नाम नागदमनी
रक्तेक्षणं समद - कोकिल कण्ठनीलं,
क्रोधोद्धतं फणिन-मुत्फण-मापतन्तम्।
आक्रामति क्रम-युगेण निरस्त शंकस्,
त्वन्नाम नागदमनी हृदि यस्य पुंसः ॥41॥

अन्वयार्थ : यस्य - जिस, पुंसः - पुरुष के, हृदि - हृदय में, त्वन्नाम - आपके नाम रूपी, नागदमनी - नाग के विष का दमन करने वाली जड़ी बूटी है, निरस्तशंकः - शंका से रहित होकर, रक्तेक्षणम् - लाल नेत्रों वाले, आपतन्तम् - सामने आते हुए, समद-कोकिल - मदयुक्त कोयल के, कण्ठनीलम् - कण्ठ के समान काले, क्रोधोद्धतम् - क्रोध से फुँफकारते हुए और उत्फणम् - ऊपर को फण उठाये, फणिनम् - साँप को, क्रमयुगेण - दोनों पैरों से, आक्रामति - लाँघ जाता है।

अर्थ : हे भगवन्! मद व क्रोध से भरा अति भयंकर साँप आपको स्मरण करने वाले मनुष्य के सामने आ जाए तो भी कुछ नहीं बिगाड़ पाता है।

भावार्थ : हे प्रभो! भयंकर काला नाग, जिसकी आँखें लाल मणि-सी चमक रही हों, सम्पूर्ण शरीर कोकिल के कण्ठ की भाँति गहरा काला डरावना हो, जो क्रोधोन्मत्त होकर फन किये फुँसकारता आ रहा हो, आपके भक्त जिसके पास आपके नाम / स्मरण रूपी नागदमनी जड़ी बूटी विद्यमान है, ऐसे पुरुष उस क्रुद्ध नाग को भी निःशंक / निर्भय होकर लाँघ जाता है, अर्थात् आपके भक्त सदा सर्प भय से मुक्त रहते हैं ॥41॥

संग्रामभय विनाशक जिनकीर्तन
वल्गत्तुरंग गज - गर्जित भीमनाद- ,
माजौ बलं बलवता-मपि भू-पतीनाम्।
उद्यद्-दिवाकर मयूख शिखापविद्धं,
त्वत् कीर्तनात्तम इवाशु भिदा-मुपैति ॥42॥

अन्वयार्थ : आजौ - युद्ध के मैदान में, त्वत्कीर्तनात् - आपके नाम का कीर्तन

करने से, बलवताम् - बलशाली, भूपतीनाम् - राजाओं के (शत्रु), वल्गात् - उछलते हुए, तुरङ्ग - घोड़ों और, गज-गर्जित - हाथियों की गर्जना से, भीमनादम्-भयंकर है शब्द जिसमें ऐसी, बलम् - सेना, अपि-भी, उद्यद् दिवाकर - उदित होते हुए सूर्य की, मयूखशिखा - किरणों की शिखा से, अपविद्धम् - नष्ट हुए, तमः इव - अंधकार के समान, आशु - शीघ्र ही, भिदाम् - छिन्न-भिन्न, उपैति - हो जाती है।

अर्थ : हे प्रभो! सूर्य की किरणों से जैसे अँधेरा नष्ट हो जाता है, वैसे ही आपका यशोगान करने वालों से बड़े-बड़े राजाओं की सेनाएँ भी हार जाती हैं।

भावार्थ : हे प्रभो! जिस रणक्षेत्र में शत्रु पक्ष के घोड़े हिनहिना रहे हों, हाथी चिल्ला रहे हों, सैनिक दारुण कोलाहल कर रहे हों, ऐसे बलवान शत्रु राजा की सेना भी आपका नामोच्चारण होते ही ऐसे भाग खड़ी होती है, जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार। अर्थात् आपका नाम लेने पर भक्त, शत्रुभय से मुक्त हो जाता है।।42।।

शरणागत की युद्ध में विजय

कुन्ताग्र-भिन्न गज शोणित-वारिवाह-

वेगावतार तरणातुर योध - भीमे।

युद्धे जयं विजित दुर्जय जेय पक्षास्,

त्वत्पाद-पंकज वनाश्रयिणो लभन्ते।।43।।

अन्वयार्थ : कुन्ताग्र - भालों के अग्र भाग से, भिन्न - छिन्न-भिन्न हुए, गज - हाथियों के, शोणित - रक्तरूपी, वारिवाह - जल के प्रवाह में, वेगावतार - वेग से उतरे और, तरणातुर - तैरने से लिए आतुर, योधभीमे - योद्धाओं के कारण भयंकर, युद्धे - युद्ध में, त्वत्पादपंकज - आपके चरण-कमल रूपी, वनाश्रयिणः - वन का आश्रय लेने वाले पुरुष, विजितदुर्जयजेय - जिसको जीतना कठिन है, पक्षाः - ऐसे शत्रु पक्ष को पराजित करके, जयम् - विजय, लभन्ते - प्राप्त करते हैं।

अर्थ : हे भगवन्! जिसे जीतना बहुत मुश्किल हो, उसको भी सहजता से वो जीत लेते हैं, जो आपके चरण-कमल के आश्रय को प्राप्त हो जाते हैं।

भावार्थ : हे जिनेन्द्र देव! जिस युद्ध भूमि में भालों की नोक से छिन्न-भिन्न

हाथियों के शरीर से रक्त की धाराएँ बह रही हों तथा उस भीषण रक्त-प्रवाह को पार करने में बड़े-बड़े योद्धा भी असमर्थ हों। ऐसे भयंकर युद्ध में आपके चरणकमल रूपी वन का आश्रय लेने वाले भक्तगण शत्रु पक्ष को जीतकर विजय ध्वजा फहराते हैं अर्थात् आपके भक्त विजयश्री प्राप्त करते हैं।।43।।

नाम स्मरण से निर्विघ्न समुद्र यात्रा

अम्भोनिधौ क्षुभित भीषण नक्र-चक्र-
पाठीन-पीठ भयदोल्बण वाडवाग्नौ।
रंगत्तरंग शिखर-स्थित यान-पात्रास्,
त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद् व्रजन्ति।।44।।

अन्वयार्थ : क्षुभित - क्षोभयुक्त, भीषण - भयंकर, नक्र-चक्र - मगरमच्छों के समूह और, पाठीन-पीठ - मछलियों की पीठ की टक्कर से, भयदोल्बण - भय को उत्पन्न करने वाले एवं भयानक, वाडवाग्नौः - बड़वानल से युक्त /पानी की अग्नि से युक्त, अम्भौनिधौ - समुद्र में, रंगत्तरंग - लहराती हुई लहरों के, शिखरस्थित - अग्रभाग पर डगमगाते हुए, यानपात्राः - जहाज वाले प्राणी, स्मरणात् - स्मरण से, त्रासं - घबराहट को, विहाय - छोड़कर, व्रजन्ति - चले जाते हैं।

अर्थ : हे भगवान! बड़वानल की अग्नि व समुद्र में तूफान हो तो भी आपका स्मरण करने वाले निडर होकर यात्रा करते हुए सागर को पार कर लेते हैं।

भावार्थ : हे भगवन्! जिस महासमुद्र में मगरमच्छ आदि भयानक जलचर जीव उछलें मार रहे हों, बड़वानल (पानी की आग) की लहरें उठ रही हों, तूफानी हवाओं से ऊँची-ऊँची लहरें उछल रही हों, ऐसे समुद्र में जिनका जहाज फँस गया हो; वे जब आपका स्मरण करते हैं, तब सब विपदाओं से मुक्त हो सुखपूर्वक तट पर पहुँच जाते हैं अर्थात् आपके भक्त, जल के भय से मुक्त हो जाते हैं।।44।।

व्याधि विनाशक चरणरज

उद्भूत भीषण जलोदर भार-भुग्नाः,
शोच्यां दशामुपगताश्च्युत जीविताशाः।

त्वत्पाद पंकज रजोऽमृत दिग्धदेहा,
मर्त्या भवन्ति मकरध्वज तुल्यरूपाः ॥45॥

अन्वयार्थ : उद्भूत – उत्पन्न हुए, भीषण – भयंकर, जलोदर – जलोदर के, भारभुग्नाः – भार से पीड़ित, शोच्यां – शोचनीय, दशाम् – दशा को, उपगताः – प्राप्त हुए, च्युत जीविताशाः – छोड़ दी जीने की आशा जिन्होंने ऐसे, मर्त्याः – मनुष्य, त्वत्पादपंकज – आपके चरण-कमलों की, रजः अमृत – रज रूपी अमृत से, दिग्ध देहाः – देह को लिप्त करके, मकरध्वज – कामदेव के, तुल्यरूपाः – समान रूप वाले, भवन्ति – हो जाते हैं।

अर्थ : हे प्रभु! जिस जलोदर रोग के होने पर जिन्दा रहने की आशा नहीं रह जाती है, वह रोगी भी आपके चरणों की रज से कामदेव-सा सुन्दर हो जाता है, अर्थात् जलोदर रोग मिट जाता है।

भावार्थ : हे भगवन्! जो व्यक्ति जलोदर आदि रोगों से पीड़ित है, मूल्यवान औषधियाँ लेते रहने पर भी बड़ी गम्भीर शोचनीय दशा में पहुँच गये हैं, घर वालों को उनके जीने की आशा भी नहीं रही है। ऐसे रोगग्रस्त, निराश पुरुष जब आपके चरण-कमल की धूलि को शरीर पर लगाते हैं, तो वे स्वस्थ / नीरोग होकर कामदेव के समान सुन्दर दिखने लगते हैं ॥45॥

नाम जाप से बन्धन मुक्ति

आपाद कंठ-मुरु शृंखल वेष्टितांगा,
गाढं बृहन्-निगड कोटि निघृष्ट जंघा।
त्वन्नाम मन्त्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः,
सद्यः स्वयं विगत बन्ध-भया भवन्ति ॥46॥

अन्वयार्थ : आपादकण्ठम् – पैरों से लेकर कण्ठ तक, ऊरुशृंखल – बड़ी साँकलों से/जंजीरों से, वेष्टितांगाः – वेष्टित शरीरवाले, गाढम् – अत्यन्त कसकर बाँधी गयी, बृहत् निगडकोटि – बड़ी-बड़ी बेड़ियों के किनारों से, निघृष्टजङ्घा –

जिसकी जंघाएँ घिस गई हैं, **मनुजाः** – ऐसे मनुष्य, **त्वन्नाम-मंत्रम्** – आपके नाम रूपी मंत्र को, **अनिशम्** – निरंतर, **स्मरन्तः** – स्मरण करते हुए **सद्यः** – शीघ्र ही **स्वयम्** – अपने आप, विगत **बन्धभया** – बंध के भय से रहित **भवन्ति** – हो जाते हैं।

अर्थ : हे भगवन्! जिन बेड़ियों की रगड़ से खून निकलने लगा हो, उनकी ऐसी मोटी बेड़ी भी शीघ्र टूट जाती है, जो हमेशा आपका स्मरण करते रहते हैं।

भावार्थ : हे भगवन्! जो पैरों से गले तक मोटी साँकलों से बँधे हैं, बेड़ियों की रगड़ से जिनकी जाँघें लहूलुहान हो गई हैं, ऐसे कठोर कारागार में बँधे व्यक्ति भी आपके नाम का निरन्तर स्मरण करने पर बंधन से मुक्त हो जाते हैं।। 46।।

सम्पूर्ण भय निवारक जिनस्तवन

मत्तद्विपेन्द्र-मृगराज-दवानलाहि-
संग्राम-वारिधि-महोदर-बन्धनोत्थम्।
तस्याशु नाश - मुपयाति भयं-भियेव,
यस्तावकं स्तवमिमं मतिमानधीते।।47।।

अन्वयार्थ : **यः** – जो, **मतिमान्** – बुद्धिमान, **तावकम्** – आपके, **इमं** – इस, **स्तवं** – स्त्रोत को, **अधीते** – पढ़ता है, **तस्य** – उसका, **मत्तद्विपेन्द्र** – मत्त गजराज, **मृगराज** – सिंह, **दवानल** – दावाग्नि, **अहि** – साँप, **संग्राम** – युद्ध, **वारिधि** – समुद्र, **महोदर** – जलोदर और, **बन्धनोत्थम्** – बेड़ी बंधन से उत्पन्न हुआ, **भयम्** – भय, **भिया** – डर से, **इव** – ही, **आशु** – शीघ्र, **नाशम्** – नाश को, **उपयाति** – प्राप्त हो जाता है।

अर्थ : हे प्रभु! दुनिया में जितने भी तरह के भय व रोगादि हैं, वे सभी आपकी स्तुति को पढ़ने मात्र से मिट जाते हैं। जो आपकी स्तुति से न मिटे, वह भय या रोग हो ही नहीं सकता।

भावार्थ : हे नाथ! जो बुद्धिमान मनुष्य भक्तिपूर्वक आपके इस स्तोत्र का पाठ करता है, वह मदोन्मत्त हाथी, क्रुद्ध सिंह, दावानल, विषधर नाग, भयंकर युद्ध, समुद्र,

जलोदर रोग और कारागार (पीछे बताये गये) – इन आठ प्रकार के भयों से सदा मुक्त रहता है। अर्थात् भय स्वयं ही उससे डरकर दूर चला जाता है।।47।।

कण्ठ धरे सो लहे मानतुङ्ग अनुरूप

स्तोत्र-स्रजं तव जिनेन्द्र ! गुणैर्निबद्धां,
भक्त्या मया विविध वर्णविचित्रपुष्पाम् ।
धत्ते जनो य इह कण्ठगता - मजस्रं,
तं मानतुंग-मवशा समुपैति लक्ष्मीः।।48।।

अन्वयार्थ : इह – इस लोक में, भक्त्या – भक्तिपूर्वक, जिनेन्द्र – हे जिनेन्द्र ! मया – मेरे द्वारा, तव – आपके, गुणैः – गुणों से, निबद्धाम् – रची हुई, विविध – नाना, वर्ण – अक्षर ही हैं, विचित्र – रंग-बिरंगे, पुष्पाम् – पुष्प जिसमें ऐसी, स्तोत्रस्रजम् – स्तुतिरूपी माला को, यः जनः – जो मनुष्य, अजस्रं – निरन्तर, कण्ठगताम् – कण्ठ में, धत्ते – धारण करता है, तम् – उस, मानतुंगम् – स्वाभिमानि अथवा मानतुंग पुरुष को, अवशा – विवश होकर, लक्ष्मीः – सर्व प्रकार की लौकिक और पारलौकिक लक्ष्मी, समुपैति – प्राप्त होती है।

अर्थ : हे जिनदेव ! नाना रुचि, अलंकार और पुष्पों से गूँथा गया आपका यह पावन स्तोत्र जो व्यक्ति हमेशा भक्तिपूर्वक पढ़ता है, गाता है, याद करता है, उसे नियम से भविष्य में मोक्षरूपी लक्ष्मी प्राप्त होती है।

भावार्थ : हे जिनेन्द्र ! मैंने भक्ति भाव से आपके गुणों की यह स्तोत्ररूपी माला रची है, जो मनोहर वर्ण (शब्द) रूप बहुरंगी भावों / पुष्पों से युक्त है। जो भक्त आपकी भक्ति में लीन होकर इस स्तोत्रमाला को कण्ठ में धारण करेगा अर्थात् इसे कण्ठस्थ कर निरन्तर पाठ करता रहेगा, वह जगत के ऊँचे-से-ऊँचे सम्मान को प्राप्त होगा तथा समृद्धि, स्वर्ग, मोक्षरूप लक्ष्मी स्वयं ही उसके पास चली आयेगी।।48।।

।। इति श्री भक्तामरस्तोत्रम् ।।

20. श्री कल्याणमन्दिरस्तोत्रम्

मंगलाचरण

कल्याण-मन्दिर-मुदार-मवद्य-भेदि,
भीताभय-प्रदमनिन्दित-मङ्घ्रिपद्मम्।
संसार-सागर-निमज्जदशेष जन्तु-
पोतायमान-मभिनम्य जिनेश्वरस्य॥1॥

अन्वयार्थ : कल्याणमन्दिरम् - कल्याणों के मंदिर, उदारम् - महान, अवद्यभेदि - पापों को नष्ट करने वाले, भीताभयप्रदम् - संसार से डरे हुए जीवों को अभयदान देनेवाले, अनिन्दितम् - प्रशंसनीय और संसार-सागर - संसाररूपी समुद्र में, निमज्जदशेषजन्तु - डूबते हुए समस्त जीवों के लिए, पोतायमानम् - जहाज के समान, जिनेश्वरस्य - जिनेन्द्र भगवान के, अङ्घ्रिपद्मम् - चरण-कमल को, अभिनम्य - नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ : जो समस्त भव्य जीवों के लिए कल्याणों के मंदिर हैं, महान से महान पापों को नष्ट करने वाले हैं, सांसारिक दुःखों से भयभीत हुए जीवों को जो अभयदान में प्रशंसनीय हैं, पाप के भार से संसार-समुद्र में डूबते हुए समस्त जीवों को पार लगाने के लिए जो पोत के समान हैं - ऐसे तीनों लोकों के स्वामी देवाधिदेव, जिनेन्द्रदेव के भवतारक चरण-कमलों में मैं त्रय योगों से बार-बार नमस्कार करता हूँ।

प्रतिज्ञा

यस्य स्वयं सुरगुरु-गरिमाम्बुराशेः,
स्तोत्रं सुविस्तृत-मतिर्न विभु-विधातुम्।
तीर्थेश्वरस्य कमठ-स्मय-धूमकेतो-
स्तस्याहमेष किल संस्तवनं करिष्ये॥2॥

अन्वयार्थ : यस्य - जिन पार्श्वनाथ स्वामी की, स्तोत्रम् विधातुम् - स्तुति

करने के लिए, स्वयं सुविस्तृतमतिः - खुद विस्तृत बुद्धिवाले, सुरगुरुः - बृहस्पति भी, विभुः - समर्थ, न अस्ति - नहीं हैं, कमठस्मयधूमकेतोः - कमठ का मान भस्म करने के लिए अग्नि स्वरूप, तस्य तीर्थेश्वरस्य - उन पार्श्वनाथ स्वामी की, किल - निश्चय से, एव अहम् - मैं, संस्तवनम् - स्तुति, करिष्ये - करूँगा।

भावार्थ : आचार्य भगवन् कुमुदचन्द्र स्वामी पार्श्वनाथ स्वामी को नमस्कार कर भक्ति की प्रतिज्ञा करते हुए कह रहे हैं कि जिनकी स्तुति करने के लिए स्वयं अलकापुरी का अधिपति सौधर्म भी पूर्णतः समर्थ नहीं है - ऐसे कमठ का मान भंग करने वाले शीतल अग्नि स्वरूप उपसर्गजयी पार्श्वनाथ स्वामी की मैं स्तुति करूँगा।

लघुता अभिव्यक्ति

सामान्यतोऽपि तव वर्णयितुं स्वरूप-
मस्मादृशः कथमधीश! भवन्त्यधीशाः।
धृष्टोऽपि कौशिकशिशुर्यदि वा दिवान्धो,
रूपं प्ररूपयति किं किल घर्मरश्मेः॥३॥

अन्वयार्थ : अधीश! - हे स्वामिन्! सामान्यतः अपि - साधारण रीति से भी, तव - तुम्हारे, स्वरूपम् - स्वरूप को, वर्णयितुम् - वर्णन करने के लिए, अस्मादृशाः - मुझ जैसा मनुष्य, कथम् - कैसे, अधीशाः - समर्थ, भवन्ति - हो सकते हैं? अर्थात् नहीं हो सकते। यदि वा अथवा, दिवान्धः - दिन में अन्धा रहनेवाला, कौशिकशिशुः - उल्लू का बच्चा, धृष्टः अपि सन् - धीठ होता हुआ भी, किम् - क्या, घर्मरश्मेः - सूर्य के, रूपम् - रूप का, वर्णयति किल - वर्णन कर सकता है? अर्थात् नहीं कर सकता।

भावार्थ : हे भगवन्! जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से अपरिचित उल्लूक अर्थात् उल्लू का बच्चा सूर्य के प्रकाश का वर्णन नहीं कर सकता क्योंकि दिवान्ध होने से उसने कभी सूर्य का दर्शन किया ही नहीं है; उसी प्रकार मैं भी आज तक मिथ्या ज्ञानरूपी अंधकार से अन्धा होने से आपके पावन दर्शन से वंचित रहा। अतः मैं साधारण मनुष्य आपके स्वरूप का वर्णन करने में समर्थ नहीं हूँ।

अनिर्वचनीय गुण

मोह-क्षयादनुभवन्नपि नाथ मर्त्यो,
नूनं गुणान्गणयितुं न तव क्षमेत्।
कल्पान्तवान्तपयसः प्रकटोऽपि यस्मा-
न्मीयेत केन जलधे-र्ननु रत्नराशिः॥4॥

अन्वयार्थ : नाथ! - हे नाथ!, मर्त्यः - मनुष्य, मोहक्षयात् - मोहनीय कर्म के क्षय से, अनुभवन् अपि - अनुभव करता हुआ भी, तव - आपके, गुणान् - गुणों को, गणयितुम् - गिनने के लिए, नूनम् - निश्चय करके, न क्षमेत् - समर्थ नहीं हो सकता है, यस्मात् - क्योंकि, कल्पान्तवान्तपयसः - प्रलयकाल के समय जिसका जल बाहर हो गया है, ऐसे, जलधेः - समुद्र की, प्रकटः अपि - प्रकट हुई भी, रत्नराशि रत्नों की राशि, ननु केन मीयेत? - किसके द्वारा गिनी जा सकती है? अर्थात् किसी के द्वारा नहीं।

भावार्थ : हे स्वामी! जिस प्रकार प्रलयकाल के समय जब समुद्र का जल बाहर आ गया हो, रत्नराशि स्पष्ट दृश्यमान हो रही हो; वह रत्नराशि किसी के द्वारा गिन पाना शक्य नहीं है अर्थात् उस राशि को गिनने में कोई भी समर्थ नहीं है; उसी प्रकार मोहनीय कर्म के अत्यन्त क्षय हो जाने से आपके अनन्त गुण प्रत्यक्ष दिख रहे हैं; लेकिन उन गुणों की गणना करने में कौन समर्थ है अर्थात् कोई भी आपके गुणों की गणना नहीं कर सकता।

अल्पज्ञता का द्योतक

अभ्युद्यतोऽस्मि तव नाथ! जडाशयोऽपि,
कर्तुं स्तवं लसदसंख्य-गुणाकरस्य।
बालोऽपि किं न निज-बाहु-युगं वितत्य,
विस्तीर्णतां कथयति स्वधियाम्बुराशेः॥5॥

अन्वयार्थ : नाथ! - हे स्वामिन्! जडाशयः अपि अहम् - मैं मूर्ख भी, लसदसंख्यगुणाकरस्य - शोभायमान असंख्यात गुणों की खानि स्वरूप, तव -

आपके, स्तवम् कर्तुम् - स्तवन करने के लिए, अभ्युद्यतः अस्मि - तैयार हुआ हूँ।
क्योंकि बालः अपि - बालक भी, स्वधिया - अपनी बुद्धि के अनुसार, निजबाहुयुगम्
- अपने दोनों हाथों को, वितत्य - फैलाकर, किम् - क्या, अम्बुराशिः - समुद्र के,
विस्तीर्णताम् - विस्तार को, न कथयति - नहीं कहता? अर्थात् कहता है।

भावार्थ : हे प्रभु! जिस प्रकार छोटा-सा बालक अपनी छोटी-छोटी-सी दोनों
भुजाओं को फैलाकर अपनी छोटी-सी बुद्धि के द्वारा विशाल समुद्र का विस्तार बताने का
साहस करता है, उसी प्रकार मैं अल्प बुद्धि का धारी मूर्ख भी आप जैसे असंख्यात गुणों
के सागर की मैं स्तुति करने के लिए तैयार हुआ हूँ।

अविचारित कार्य

ये योगिनामपि न यान्ति गुणास्तवेश,
वक्तुं कथं भवति तेषु ममावकाशः।
जाता तदेवमसमीक्षित-कारितेयं,
जल्पन्ति वा निज-गिरा ननु पक्षिणोऽपि॥6॥

अन्वयार्थ : ईश! - हे प्रभु!, तव - आपके, ये गुणाः जो गुण, योगिनाम्
अपि - योगियों को भी, वक्तुम् - कहने के लिए, न यान्ति - नहीं प्राप्त होते अर्थात्
जिनका कथन योगी जन भी नहीं कर सकते, तेषु - उनमें, मम - मेरा, अवकाशः -
अवकाश, कथम् भवति - कैसे हो सकता है? अर्थात् मैं उन्हें कैसे वर्णन कर सकता
हूँ?, तत् - इसलिए, एवम् - इस प्रकार, इयम् - मेरा यह, असमीक्षितकारिता
जाता - बिना विचारे काम करता हुआ, वा - अथवा, पक्षिणः अपि - पक्षी भी,
निजगिरा - अपनी वाणी से, जल्पन्ति ननु - बोला करते हैं।

भावार्थ : हे भगवन्! जिस प्रकार पक्षीगण असमर्थ होते हुए भी बोलने का
पुरुषार्थ करते हैं, उसी प्रकार मैं जानता हूँ कि आप अनन्त गुणों के धारी हैं, जिनका बखान
बड़े-बड़े योगीश्वर भी नहीं कर पाये तो मैं कैसे समर्थ हो सकता हूँ, लेकिन फिर भी मैं
बिना विचारे ही आपकी स्तुति कर रहा हूँ।

प्रभु नाम स्मरण भवनाशक

आस्ता-मचिन्त्य-महिमा जिन संस्तवस्ते,
नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति।
तीव्रातपोपहत पान्थ-जनान्निदाघे-
प्रीणाति पद्म-सरसः स-रसोऽनिलोऽपि॥7॥

अन्वयार्थ : जिन! - हे जिनेन्द्र! अचिन्त्यमहिमा - अचिन्त्य है माहात्म्य जिसका ऐसा, ते - आपका, संस्तवः - स्तवन, आस्ताम् - दूर रहे, भवतः - आपका, नाम अपि - नाम भी, जगन्ति जीवों को, भवतः - संसार से, पाति - बचा लेता है। क्योंकि, निदाघे - ग्रीष्मकाल में, तीव्रातपोपहत - तीव्र घाम से सताये हुए, पान्थजनान् पथिक जनों को, पद्मसरसः - कमलों के सरोवर का, सरसः - शीतल, अनिलः अपि - पवन भी, प्रीणाति - संतुष्ट करता है।

भावार्थ : हे स्वामी! आपके स्तवन की महिमा तो अचिन्त्य है ही। आपके नाम मात्र का स्मरण भी जीवों को संसार के दुःखों से बचा लेता है। उदाहरण द्वारा आचार्य महाराज कह रहे हैं कि जिस प्रकार सूर्य की तपन से जब पथिक जन ग्रीष्मकाल में पीड़ित होते हैं तो उन्हें कमल सरोवर का शीतल जल तो सुख देता ही है; लेकिन उन सरोवरों की शीतल वायु भी सुख प्रदान करती है।

भक्ति से कर्मनाश

हृद्वर्तिनि त्वयि विभो शिथिलीभवन्ति,
जन्तोः क्षणेन निबिडा अपि कर्म-बन्धाः।
सद्यो भुजंगम-मया इव मध्य-भाग-
मभ्यागते वन-शिखण्डिनी चन्दनस्य॥8॥

अन्वयार्थ : विभो! - हे स्वामिन्! त्वयि - आपके, हृद्वर्तिनि - हृदय में मौजूद रहते हुए, जन्तोः - जीवों के, निबिडाः अपि - सघन भी, कर्मबन्धाः - कर्मों के बन्धन, क्षणेन - क्षण भर में, वनशिखण्डिनी - वन-मयूर के, चन्दनस्य मध्यभागम्

अभ्यागते सति – चंदन के बीच में आने पर, भुजंगममया इव – सर्पों की कुण्डलियों के समान, सद्यः – शीघ्र ही, शिथिलीभवन्ति – ढीले हो जाते हैं।

भावार्थ : हे भगवन्! जिस प्रकार मयूर के आते ही चन्दन के वृक्ष से लिपटे हुए सर्प के बन्धन ढीले पड़ जाते हैं, उसी प्रकार जीवों के हृदय में आपके रहते हुए सघन कर्मों के बन्धन भी ढीले पड़ जाते हैं।

प्रभु दर्शन महिमा

मुच्यन्त एव मनुजाः सहसा जिनेन्द्र!
रौद्रै-रुपद्रव-शतैस्त्वयि वीक्षितेऽपि।
गो-स्वामिनि स्फुरित-तेजसि दृष्टमात्रे,
चौरैरिवाशु पशवः प्रपलायमानैः॥१॥

अन्वयार्थ : जिनेन्द्र! – हे जिनेन्द्रदेव, स्फुरति तेजसि – पराक्रमी, गोस्वामिनि – राजा के, दृष्टमात्रे – दिखते ही, आशु – शीघ्र ही, प्रपलायमानैः – भागते हुए, चौरैः – चोरों के द्वारा, पशवः इव – पशुओं की तरह, त्वयि वीक्षिते अपि – आपके दिखते ही अथवा आपके दर्शन करते ही, मनुजाः – मनुष्य, रौद्रैः – भयंकर, उपद्रवशतैः – सैकड़ों उपद्रवों के द्वारा, सहसा इव – शीघ्र ही, मुच्यन्ते – छोड़ दिये जाते हैं।

भावार्थ : हे भगवन्! जिस प्रकार तेजस्वी पराक्रमी सम्राट के दिखते ही अथवा गायों के स्वामी के दिखते ही चोर, चुराई हुई गायों को छोड़कर भाग जाते हैं, उसी प्रकार आपके दर्शन होते ही भयंकर सैकड़ों उपद्रव भी मनुष्यों को छोड़कर भाग जाते हैं।

भव-सिन्धु तारक जिन

त्वं तारको जिन! कथं भविनां त एव,
त्वमुद्रहन्ति हृदयेन यदुत्तरन्तः।
यद्वा दृतिस्तरति यज्जलमेष नून-
मन्तर्गतस्य मरुतः स किलानुभावः॥१०॥

अन्वयार्थ : जिन! – हे जिनेन्द्र देव! त्वम् भविनाम् तारकः कथम् – आप संसारी जीवों के तारने वाले कैसे हो सकते हैं? यत् – क्योंकि, उत्तरन्तः – संसार-समुद्र से पार होते हुए, ते एव – वे संसारी जीव ही, हृदयेन – हृदय से, त्वाम् – आपको, उद्धहन्ति – तिरा ले जाते हैं, यद्वा – अथवा ठीक है कि, दृतिः – मसक, यत् – जो, जलम् तरति – पानी में तैरती है, सः एषः – वह, नूनम् – निश्चय से, अन्तर्गतस्य – भीतर स्थित, मरुतः – हवा का ही, अनुभावः किल – प्रभाव है।

भावार्थ : हे प्रभु! जिस प्रकार मसक में वायु भर जाने से वह पानी में तैरने लगती है; उसी प्रकार आपको अपने हृदय में धारण करने वाले मनुष्य भी संसार-सागर से तैर जाते हैं।

मदन-विजेता पार्श्वनाथ

यस्मिन्हर-प्रभृतयोऽपि हत-प्रभावाः,
सोऽपि त्वया रति-पतिः क्षपितः क्षणेन।
विध्यापिता हुतभुजः पयसाथ येन,
पीतं न किं तदपि दुर्धर-वाडवेन॥११॥

अन्वयार्थ : यस्मिन् – जिसके विषय में, हरप्रभृतयः अपि – महादेव आदि भी, हतप्रभावाः जाताः – प्रभाव रहित हो गये हैं, सः – वह, रतिपतिः अपि – कामदेव भी, त्वया – आपके द्वारा, क्षणेन – क्षणमात्र में, क्षपितः – नष्ट कर दिया गया, अथ – अथवा ठीक है कि, येन पयसा – जिस जल ने, हुतभुजः विध्यापिताः – अग्नि को बुझाया, तत् अपि – वह जल भी, दुर्धरवाडवेन – प्रचण्ड बड़वानल के द्वारा, किम् – क्या, न पीतम् – नहीं पिया गया? अर्थात् पिया गया है।

भावार्थ : जिस काम के आगे हरि, हर, ब्रह्मा, महादेव आदि महापुरुषों ने अपना प्रभाव खो दिया है अर्थात् जिस काम के समक्ष बड़े-बड़े महापुरुषों ने अपने घुटने टेक दिये, उस काम को भी आपने परास्त कर दिया। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि जो जल संसार की सम्पूर्ण अग्नि को नष्ट कर देता है, उस जल को भी प्रचण्ड बड़वानल की अग्नि के द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। अर्थात् बड़वानल की प्रचण्ड अग्नि

उस जल को पी लेती है।

महापुरुषों का अचिन्त्य प्रभाव
स्वामिन्ननल्प-गरिमाणमपि प्रपन्ना-
स्त्वां जन्तवः कथमहो हृदये दधानाः।
जन्मोदधिं लघु तरन्त्यतिलाघवेन,
चिन्त्यो न हन्त महतां यदि वा प्रभावः॥12॥

अन्वयार्थ : स्वामिन्! - हे प्रभो! अहो - आश्चर्य है कि, अनल्पगरिमाणम् अपि - अधिक गौरव से युक्त भी, विरोध पक्ष में - अत्यन्त वजनदार, त्वाम् - आपको, प्रपन्नाः - प्राप्त हो, हृदये दधानाः - हृदय में धारण करनेवाले, जन्तवः - प्राणी, जन्मोदधिम् - संसार-समुद्र को, अतिलाघवेन - बहुत ही लघुता से, कथम् कैसे, लघु - शीघ्र, तरन्ति - तर जाते हैं, यदि वा - अथवा, हन्त - हर्ष है कि महताम् - महापुरुषों का, प्रभावः - प्रभाव, चिन्त्यः - चिन्तन के योग्य, न भवति - नहीं होता है।

भावार्थ : हे त्रैलोक्याधिपते! जिसकी तुलना किसी दूसरे से नहीं दी जा सकती, अथवा विश्व में जिसकी बराबरी कोई नहीं कर सकता, ऐसे अति गौरव को प्राप्त आप को हृदय में धारण कर यह जीव संसार-सागर में अति शीघ्र कैसे तर सकता है? अथवा आश्चर्य की बात है कि महापुरुषों की महिमा चिन्तन में नहीं आ सकती।

क्रोध के अभाव का प्रभाव
क्रोधस्त्वया यदि विभो प्रथमं निरस्तो,
ध्वस्तास्तदा वद कथं किल कर्म-चौराः।
प्लोषत्यमुत्र यदि वा शिशिरापि लोके,
नील-द्रुमाणि विपिनानि न किं हिमानी॥13॥

अन्वयार्थ : विभो! - हे स्वामी! यदि - यदि, त्वया - आपके द्वारा, क्रोधः - क्रोध, प्रथमम् - पहले ही, निरस्तः - नष्ट कर दिया गया था, तदा - तो फिर, वद - कहिये कि आपने, कर्मचौराः - कर्मरूपी चोर, कथम् - कैसे, ध्वस्ताः किल -

नष्ट किये?, यदि वा - अथवा, अमुत्र लोके - इस लोक में, हिमानी अपि - बर्फ भी, किम् - क्या, नीलद्रुमाणि - हरे वृक्ष वाले, विपिनानि - वनों को, न प्लोषति - नहीं जला देता है! अर्थात् जला देता है।

भावार्थ : हे भगवन्! लोक में देखने में आता है कि क्रोधी मनुष्य ही शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर पाते हैं, लेकिन आपने तो क्रोध कषाय को नवमें गुणस्थान में ही जीत लिया था। फिर क्रोध के अभाव में चौदहवें अयोग केवली गुणस्थान तक कर्मरूपी शत्रुओं को आपने कैसे परास्त किया? लेकिन ठीक ही है; क्योंकि ठण्डा तुषार अर्थात् बर्फ भी बड़े-बड़े विशाल वनों को क्षणभर में जलाकर नष्ट कर देती है; उसी प्रकार क्षमा द्वारा भी शत्रु परास्त किये जा सकते हैं।

आत्मा की खोज

त्वां योगिनो जिन सदा परमात्मरूप-
मन्वेषयन्ति हृदयाम्बुज-कोश-देशे।
पूतस्य निर्मल-रुचेर्यदि वा किमन्य-
दक्षस्य सम्भवपदं ननु कर्णिकायाः॥14॥

अन्वयार्थ : जिन! - हे जिनेन्द्र! योगिनः - ध्यान करने वाले मुनीश्वर, सदा - हमेशा, परमात्मरूपम् - परमात्मास्वरूप, त्वाम् - आपको, हृदयाम्बुजकोशदेशे - अपने हृदयरूप कमल के मध्यभाग में, मन्वेषयन्ति - खोजते हैं, यदि वा - अथवा ठीक है कि, पूतस्य - पवित्र और निर्मलरुचेः - निर्मल कान्तिवाले, अक्षस्य - कमल के बीच का अथवा शुद्धात्मा का, सम्भवपदम् - उत्पत्ति स्थान अथवा खोज करने का स्थान, कर्णिकायाः अन्यत् - कमल की कर्णिका-डण्डल को छोड़कर अथवा हृदय कमल की कर्णिका को छोड़कर, अन्यत् किम् ननु - दूसरा क्या हो सकता है?

भावार्थ : हे त्रिलोकीनाथ! महान-महान योगीश्वर ध्यान करते समय परमात्मस्वरूप आपको अपने हृदयरूप कमल के मध्य भाग में खोजते हैं; क्योंकि वे समझते हैं कि जैसे बीज की उत्पत्ति कमल-कर्णिका में ही होती है, उसी प्रकार शुद्धात्मस्वरूप आपका सद्भाव भी हृदयकमल की कर्णिका में ही होगा। अर्थात् शुद्धात्मा की खोज हृदयकमल

की कर्णिका को छोड़कर दूसरा कौन-सा स्थान हो सकता है?।

परमात्म-ध्यान का लाभ

ध्यानाज्जिनेश भवतो भविनः क्षणेन,
देहं विहाय परमात्म-दशां व्रजन्ति।
तीव्रानलादुपल-भावमपास्य लोके,
चामीकरत्वमचिरादिव धातु-भेदाः॥15॥

अन्वयार्थ : जिनेश! - हे जिनेन्द्र! लोके - लोक में, तीव्रानलात् - तीव्र अग्नि के सम्बन्ध से, धातुभेदाः - अनेक धातुएँ, उपलभावम् - पत्थर रूप पूर्व पर्याय को, अपास्य - छोड़कर, अचिरात् - शीघ्र ही, चामीकरत्वम् इव - जिस तरह सुवर्ण पर्याय को प्राप्त हो जाती है, उसी तरह, भविनः - संसार के प्राणी, भवतः - आपके, ध्यानात् - ध्यान से, देहम् - शरीर को विहाय - छोड़कर, क्षणेन - क्षणभर में, परमात्म-दशाम् - परमात्मा की अवस्था को, व्रजन्ति - प्राप्त हो जाते हैं।

भावार्थ : हे भगवन्! जिस प्रकार इस लोक में तीव्र अग्नि का संसर्ग पाकर स्वर्ण पाषाण अपनी पाषाण पर्याय को छोड़कर सुवर्ण पर्याय को प्राप्त हो जाता है; उसी प्रकार संसार के भव्य प्राणी आपकी ध्यान रूपी अग्नि द्वारा इस शरीर को छोड़कर क्षणमात्र में अपनी परम शुद्ध परमात्म अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं।

ध्यान से बन्धन मुक्ति

अन्तः सदैव जिन यस्य विभाव्यसे त्वं,
भव्यैः कथं तदपि नाशयसे शरीरम्।
एतत्स्वरूपमथ मध्य-विवर्तिनो हि,
यद्विग्रहं प्रशमयन्ति महानुभावः॥16॥

अन्वयार्थ : जिन! - हे जिनेन्द्र! भव्यैः - भव्य जीवों के द्वारा, यस्य - जिस शरीर के, अन्तः - भीतर, त्वम् - आप, सदैव - हमेशा, विभाव्यसे - ध्याये जाते हो, तत् - उस, शरीरम् अपि - शरीर को भी आप, कथम् - क्यों, नाशयसे - नष्ट

करा देते हैं? अथ - अथवा, एतत्स्वरूपम् - यह स्वभाव ही है, यत् - कि मध्यविवर्तिनः - मध्यस्थ बीच में रहने वाले और राग-द्वेष से रहित, महानुभावाः - महापुरुष, विग्रहम् - विग्रह शरीर और द्वेष को, प्रशमयन्ति - शांत करते हैं।

भावार्थ : लोक में रीति प्रचलित है कि जो जहाँ रहता है अथवा जहाँ जिसका ध्यान किया जाता है, सम्मान किया जाता है वह उस स्थान को नष्ट नहीं करता, परन्तु हे भगवन्! आप तो भव्यजीवों के जिस शरीर में हमेशा सम्मानपूर्वक ध्याये जाते हैं, आप उन्हें उसी शरीर को ही नष्ट करने का उपदेश देते हैं अर्थात् अशरीरी होने का उपदेश करते हो। यहाँ आचार्य महाराज को पहले इस लोक-विरुद्ध बात पर भारी आश्चर्य हो रहा है, परन्तु जब उनकी दृष्टि 'विग्रह' शब्द के द्वेष अर्थ पर जाती है तो उनका आश्चर्य दूर हो गया। इस श्लोक में आये हुए 'विग्रह' शब्द के दो अर्थ हैं - पहला - 'शरीर' और दूसरा 'द्वेष'। इसी प्रकार 'मध्यविवर्तिनः' शब्द के भी दो अर्थ हैं - पहला 'बीच में रहनेवाला' और दूसरा 'राग-द्वेष से रहित समता भावी'।

परमात्म-स्वरूप का अनुभव

आत्मा मनीषिभिरयं त्वदभेद-बुद्ध्या,
ध्यातो जिनेन्द्र! भवतीह भवत्प्रभावः।
पानीयमप्यमृतमित्यनु - चिन्त्यमानं,
किं नाम नो विष-विकारमपाकरोति॥17॥

अन्वयार्थ : जिनेन्द्र! - हे जिनेन्द्र देव! मनीषिभिः - बुद्धिमानों के द्वारा, त्वदभेदबुद्ध्या - आपसे अभिन्न है - ऐसी बुद्धि से, ध्यातः - ध्यान किया गया, अयम् आत्मा - यह आत्मा, भवत्प्रभावः - आपके समान प्रभाव वाला, भवति - हो जाता है, अमृतम् इति अनुचिन्त्यमानम् - इस तरह निरन्तर चिन्तन किया जाने वाला, पानीयम् अपि - पानी भी, किम् - क्या, विषविकारम् - विष के विकार को, नो अपाकरोति नाम - दूर नहीं करता? अर्थात् करता है।

भावार्थ : जो भव्य जीव अपने आपको तीन लोक के नाथ जिनेन्द्र देव से अभिन्न अनुभव करता है अर्थात् जो सोचता है कि 'भगवन्'! जैसी विशुद्ध आत्मा आपकी है

निश्चयनय से हमारी आत्मा भी वैसी ही विशुद्ध है, किन्तु वर्तमान में पूर्व कर्मोदय से अशुद्ध हो रही है। यदि मैं भी आपके रास्ते पर चलने का प्रयत्न करूँ तो मेरी आत्मा भी शुद्ध हो जायेगी - ऐसा सोचकर जो शुद्ध होने का प्रयत्न करता है, वह आपके ही समान शुद्ध हो जाता है। जैसे कि यह अमृत है। इस प्रकार निरन्तर चिन्तवन किया गया पानी मन्त्रादि के संयोग से अमृतरूप हो जाता है और विष के विकार को दूर करने लगता है।

सर्वमान्य वीतराग जिन

त्वामेव वीत-तमसं परवादिनोऽपि,
नूनं विभो हरि-हरादि-धिया प्रपन्नाः।
किं काच-कामलिभिरीश सितोऽपि शंखो,
नो गृह्यते विविध-वर्ण-विपर्ययेण॥18॥

अन्वयार्थ : विभो! - हे स्वामिन्! परिवादिनः अपि - अन्य मतावलम्बी पुरुष भी, वीततमसम् - अज्ञान-अन्धकार से रहित, त्वाम् एव - आपको ही, नूनम् - निश्चय से, हरिहरादिधिया - विष्णु महादेव आदि की कल्पना से, प्रपन्नाः प्राप्त होते हैं - पूजते हैं, किम् - क्या, ईश! - हे विभो!, काचकामलिभिः - जिनकी आँख पर रंगदार चश्मा है, अथवा जिन्हें पाण्डु (पीलिया) रोग हो गया है, ऐसे पुरुष के द्वारा, शंखः सितः अपि - शंख सफेद होने पर भी, विविधवर्णविपर्ययेण - तरह-तरह से विपरीत वर्णों से, नो गृह्यते - ग्रहण नहीं किया जाता। अर्थात् किया जाता है।

भावार्थ : हे भगवन्! जिस प्रकार पाण्डु रोग से पीड़ित हुए मनुष्य को धवल, श्वेत शंख भी पीला ही दिखाई देता है; उसी प्रकार मिथ्यात्व अन्धकार अथवा मिथ्यात्वरोग से पीड़ित जीव भी वीतराग स्वरूप आप में ही ब्रह्मा-विष्णु को देखता है और पूजता है।

अशोक प्रातिहार्य

धर्मोपदेशसमये सविधानुभावा-
दास्तां जनो भवति ते तरुरप्यशोकः।
अभ्युद्गते दिनपतौ समहीरुहोऽपि,
किं वा विबोधमुपयाति न जीवलोकः॥19॥

अन्वयार्थ : धर्मोपदेश समये - धर्मोपदेश के समय, त - आपकी, सविधानुभावात् - समीपता के प्रभाव से, जनः अस्ताम् - मनुष्य तो दूर रहे, तरुः अपि - वृक्ष भी, अशोकः - शोक रहित, भवति - हो जाता है। वा - अथवा, दिनपतौ अभ्युद्गते सति - सूर्य के उदित होने पर, समहीरुहः अपि जीवलोकः - वृक्षों सहित समस्त जीवलोक, किं - क्या, विबोधं - विशेष ज्ञान को, न उपयाति - प्राप्त नहीं होते? अर्थात् होते हैं।

भावार्थ : इस श्लोक में अशोक शब्द के दो अर्थ होते हैं - एक 'अशोक वृक्ष' और दूसरा 'शोक रहित।' यहाँ आचार्यश्री यह कह रहे हैं कि हे प्रभु! आपका सानिध्य पाकर, आपकी समीपता पाकर अशोक वृक्ष भी शोक से रहित हो जाता है; तब आपके चरणों में आने वाला मनुष्य शोक रहित हो जाता है तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है? ठीक ही है कि सूर्य का उदय होने से केवल मनुष्य ही विबोध को प्राप्त नहीं होते, बल्कि कमल-पवार आदि वनस्पति भी अपने संकोच रूप निद्रा को छोड़कर विकसित हो जाती है।

पुष्प-वृष्टि प्रातिहार्य

चित्रं विभो कथमवाङ्मुख-वृन्तमेव,

विष्वक्पतत्यविरला सुर-पुष्प-वृष्टिः।

त्वद्गोचरे सुमनसां यदि वा मुनीश!

गच्छन्ति नूनमध एव हि बन्धनानि॥20॥

अन्वयार्थ : विभो! - हे स्वामिन्! चित्रं - यह बहुत बड़ा आश्चर्य है कि, विष्वक् अविरला - चारों तरफ से अत्यन्त व्यवधान रहित, सुरपुष्पवृष्टिः - देवों के द्वारा हुई पुष्पवृष्टि, अवाङ्मुखवृन्तं - नीचे को बन्धन डंठल करके, कथं पतति - क्यों गिरती है?, यदि वा - अथवा यह कथन युक्ति संगत है, हि - क्योंकि, मुनीश! - हे मुनिजनों के नाथ!, त्वद्गोचरे - तेरे सानिध्य में, सुमनसां - फूलों के, वा अच्छे मन वाले ज्ञानियों के, बन्धनानि - फूलों के डंठल (कर्म बंधन), नूनं - निश्चय से, अधः एव गच्छन्ति - नीचे को ही जाते हैं।

भावार्थ : हे स्वामी! हे धर्म-साम्राज्यनायक! देवों के द्वारा आपके ऊपर जो सघन पुष्पों की वृष्टि की जाती है, उनके डंठल नीचे की ओर पांखुड़ी ऊपर की ओर रहती है। उन पुष्पों को देखकर ऐसा लग रहा है मानो वे इस बात का संकेत कर रहे हैं कि आपकी निकटता से भव्य जनों के कर्मबन्धन नीचे को हो जाते हैं अर्थात् क्षय को प्राप्त हो जाते हैं।

दिव्यध्वनि प्रातिहार्य

स्थाने गभीर-हृदयोदधि-सम्भवायाः,
पीयूषतां तव गिरः समुदीरयन्ति।
पीत्वा यतः परम-सम्मद-संग-भाजो,
भव्या व्रजन्ति तरसाप्यजरामरत्वम्॥21॥

अन्वयार्थ : हे स्वामिन्! - हे जिनेन्द्र देव! गभीर-हृदयोदधि-सम्भवायाः - गंभीर हृदयरूपी समुद्र से उत्पन्न, तव गिरः - तेरी वाणी को, पीयूषतां - अमृतमय, समुदीरयन्ति - कहते हैं, स्थाने - उनका यह कथन युक्त ही है, यतः पीत्वा - क्योंकि उस अमृतमयी आपकी वाणी का कर्णाञ्जुलि के द्वारा पान कर, परम-सम्मदसंग-भाजः - सर्वोत्कृष्ट योगों का अनुभव कर, भव्याः तरसा - भव्य प्राणी शीघ्र ही, अजरामरत्वं अपि - अजर-अमर पदों को भी, व्रजन्ति - प्राप्त हो जाते हैं।

भावार्थ : हे त्रिभुवनपति! आपके अति उदार अगाध हृदयरूपी समुद्र से उत्पन्न हुई दिव्य वाणी (दिव्यध्वनि) को संसारी जीव सुधा-समान कहते हैं, सो यह बात सत्य ही है; क्योंकि धर्मानुरागी भव्यजन आपकी उस अमृततुल्य वाणी का पान करके निराकुल अक्षय अनंत सुख को प्राप्त करते हुए अमर पद को प्राप्त कर लेते हैं।

चँवर प्रातिहार्य

स्वामिन् सुदूरमवनम्य समुत्पतन्तो,
मन्ये वदन्ति शुचयः सुर-चामरौघाः।
येऽस्मै नतिं विदधते मुनि-पुंगवाय,
ते नूनमूर्ध्व-गतयः खलु शुद्ध-भावाः॥22॥

अन्वयार्थ : स्वामिन्! - हे भगवन्! मन्ये - मैं ऐसा मानता हूँ, सुदूरं - नीचे को बहुत दूर तक, अवनम्य - नम्रीभूत होकर, समुत्पतन्तः - ऊपर को जाते हुए, शुचयः - पवित्र उज्ज्वल, सुरचामरौघाः - देवों के द्वारा ढोरे गये चौंसठ चँवरों का समूह, वदन्ति ये - कहते हैं कि जो भव्य जीव, अस्मै - इस, पुंगवाय - मुनि पुंगव के लिए, श्रेष्ठ मुनि के लिए, नतिं - नमस्कार, विदधते - करते हैं, ते - वे प्राणी, नूनं - निश्चय से, शुद्धभावाः - निर्मल भावधारी होकर, ऊर्ध्वगतयः - ऊर्ध्वगमन करनेवाले होते हैं, खलु - सत्य है अथवा खलु शब्द पादपति के लिए है।

भावार्थ : हे समवशरण लक्ष्मी सुशोभित देव! जब देवगण आपके ऊपर चँवर ढोरते हैं, तब वे पहले नीचे की ओर झुकते हैं और बाद में ऊपर की ओर जाते हैं; मानो वे जनता को यह ही सूचित करते हैं कि जिनेन्द्र देव को झुक-झुक कर नमस्कार करने वाले व्यक्ति हमारे समान ही ऊपर को जाते हैं अर्थात् स्वर्ग या मोक्ष पाते हैं।

सिंहासन प्रातिहार्य

श्यामं गभीर-गिरमुज्ज्वल-हेम-रत्न-
सिंहासनस्थमिह भव्य-शिखण्डिनस्त्वाम्।
आलोकयन्ति रभसेन नदन्तमुच्चै-
श्चारीकराद्रि-शिरसीव नवाम्बुवाहम्॥23॥

अन्वयार्थ : इह - इस लोक में, श्यामं - श्याम वर्ण, गम्भीरगिरं - गम्भीर वाणी से युक्त, उज्ज्वल-हेमरत्न-सिंहासनस्थं - निर्मल स्वर्ण और रत्नों से जड़ित सिंहासन पर बैठे हुए, त्वां - तुझको, भव्य-शिखण्डिनः - भव्यरूपी मयूर, रभसेन - आनंद विभोर होकर, चामीकराद्रि-शिरसि - सुमेरु पर्वत की चोटी पर, उच्चैः - ऊँचे रूप से, नदन्तं - गर्जना करते हुए, नवाम्बुवाहं - नवीन बादल के, इव - समान, आलोकयन्ति - देखते हैं।

भावार्थ : हे भगवन्! स्वर्ण निर्मित और रत्न जड़ित सिंहासन पर विराजमान और दिव्यध्वनि को प्रकट करता हुआ आपका साँवला शरीर ऐसा जान पड़ता है, जैसे स्वर्णमय

सुमेरु पर्वत पर वर्षाकालीन नवीन काले मेघ गर्जना कर रहे हों। उन मेघों को जैसे मयूर बड़ी उत्सुकता से देखते हैं, उसीप्रकार भव्य जीव आपको भी बड़ी उत्सुकता से देखते हैं।

भामण्डल प्रातिहार्य

उद्गच्छता तव शिति-द्युति-मण्डलेन,
लुप्त - च्छद - च्छविरशोक-तरुर्बभूव।
सान्निध्यतोऽपि यदि वा तव वीतराग,
नीरागतां व्रजति को न सचेतनोऽपि॥24॥

अन्वयार्थ : उद्गच्छता - अतिशय प्रभा से दैदीप्यमान, तव - तेरे, शितिद्युतिमण्डलेन - नील वर्ण की कान्ति के प्रभा-पुंज से, अशोकतरुः - अशोक वृक्ष, लुप्तच्छदच्छविः - लुप्त हो गई है पत्रों की छवि जिसकी ऐसा शोभा विहीन पत्ते वाला, बभूव - हो गया था, यदि वा - यह कथन ठीक ही है। जैसे अशोक वृक्ष का रंग आपके भामण्डल की कान्ति से फीका पड़ गया है; उसी प्रकार, वीतराग! - हे वीतराग स्वामी! सान्निध्यतोऽपि - आपके सान्निध्य को प्राप्त कर, कः - कौन, सचेतनः - चेतन पुरुष, नीरागतां - वीतरागता को, न - नहीं, व्रजति - प्राप्त होता है।

भावार्थ : हे वीतराग देव! आपके दैदीप्यमान भामण्डल की प्रभा से अशोक वृक्ष के पत्तों की लालिमा भी लुप्त हो जाती है अर्थात् आपकी समीपता से जब वृक्षों का रंग भी जाता रहता है, तब ऐसा कौन सचेतन पुरुष है, जो आपके ध्यान द्वारा आपकी वीतरागता को प्राप्त न होगा?

दुन्दुभि वाद्य प्रातिहार्य

भो भोः प्रमादमवधूय भजध्वमेन-
मागत्य निर्वृति-पुरीं प्रति सार्थवाहम्।
एतन्निवेदयति देव जगत्त्रयाय,
मन्ये नदन्नभिनभः सुरदुन्दुभिस्ते॥25॥

अन्वयार्थ : देव! - हे देव! **मन्ये** - मैं मानता हूँ कि, **अभिनभः** - चारों तरफ आकाश में, **नदन्** - शब्द करती हुई, **ते** - तेरी, **सुरदुन्दुभिः** - देव दुन्दुभि, **जगत्-त्रयाय** - तीन लोक के भव्य जीवों को, **एतत्** - यह, **निवेदयति** - सूचित कर रही है कि, **भो-भोः** - रे रे प्राणियो, **प्रमादं** - प्रमाद को, **अवधूय** - छोड़कर, **आगत्य** - यहाँ आकर, **निवृत्तिपुरीं** - मोक्षपुरी के प्रति मुखिया अर्थात् मुक्तिपुर में ले जाने वाले, **एनं** - इन पार्श्व प्रभु की, **भजध्वं** - सेवा करो।

भावार्थ : हे मुक्तिसार्थक वाहक! आकाश में जो देवों के द्वारा नगाड़ा बज रहा है, वह मानो चिल्ला-चिल्लाकर तीनों लोकों के जीवों को सचेत ही कर रहा है कि जो मोक्षनगरी की यात्रा को जाना चाहते हैं, वे प्रमाद छोड़कर भगवान पार्श्वनाथ की सेवा करें।

छत्रत्रय प्रातिहार्य

उद्योतितेषु भवता भुवनेषु नाथ,
तारान्वितो विधुरयं विहिताधिकारः।
मुक्ता-कलाप-कलितोरु-सितातपत्र-
व्याजात्त्रिधा धृत-तनुर्ध्रुवमभ्युपेतः॥26॥

अन्वयार्थ : नाथ! - हे स्वामिन्! **भवता** - आपके द्वारा, **भुवनेषु** - तीन लोकों के, **उद्योतितेषु** - प्रकाशित हो जाने पर, **विहिताधिकारः** - नष्ट हो गया है अधिकार जिसका ऐसा, **तारान्वितः** - ताराओं से युक्त, **अयं** - यह, **विधुः** - चन्द्रमा **मुक्ता-कलाप-कलितोल्लसितातपत्र-व्याजात्** - मोतियों के समूह से युक्त तेजस्वी - ऐसे तीन छत्रों के छत्र से, **त्रिधाधृततनुः** - तीन-तीन के शरीर को धारण करके, **ध्रुवं** - निश्चय से, **अभ्युपेतः** - आपकी शरण में आया है।

भावार्थ : हे अपूर्व तेज पुंज! आपने तीनों लोकों को प्रकाशित कर दिया, अब चन्द्रमा किसे प्रकाशित करे? इसलिए वह तीन छत्र का वेश धारण कर अपना अधिकार वापस लेने की इच्छा से आपकी सेवा में उपस्थित हुआ है। छत्रों में जो मोती लगे हैं, वे

मानो चन्द्रमा के परिवार स्वरूप तारागण ही हैं।

समवशरण के तीन प्रकोट

स्वेन प्रपूरित-जगत्त्रय-पिण्डितेन,
कान्ति-प्रताप-यशसामिव संचयेन।
माणिक्य-हेम-रजत-प्रविनिर्मितेन,
सालत्रयेण भगवन्नभितो विभासि॥27॥

अन्वयार्थ : भगवन्! - हे स्वामिन्! प्रपूरित - परिपूर्ण किया है, जगत्त्रय-पिण्डितेन - तीनों जगत के पिण्ड को जिन्होंने ऐसे, स्वेन - स्वकीय, कान्ति-प्रताप-यशसां - कान्ति, प्रताप और यश के, संचयेन इव - समूह के समान, माणिक्य-हेम-रजत-प्रविनिर्मितेन - माणिक्य, सुवर्ण और चाँदी के द्वारा निर्मित, शालत्रयेण - तीन परकोटे के द्वारा, अभितः - चारों तरफ, विभासि - शोभित होते हैं।

भावार्थ : हे प्रताप पुंज! समवशरण भूमि में आपके चारों ओर माणिक्य, स्वर्ण और चाँदी के बने कोट हैं, वे मानो आपको कान्ति, प्रताप और कीर्ति के वर्तुलाकार रूप ही हैं।

इन्द्रों द्वारा वन्दनीय

दिव्य-स्रजो जिन नमत्त्रिदशाधिपाना-
मुत्सृज्य रत्न-रचितानपि मौलि-बन्धान्।
पादौ श्रयन्ति भवतो यदि वापरत्र,
त्वत्संगमे सुमनसो न रमन्त एव॥28॥

अन्वयार्थ : जिन! - हे जिनेश्वर स्वामी! नमत् त्रिदशाधिपानां - विनय से नम्रीभूत इन्द्रों के, रत्नरचितान् - रत्नों से जड़ित, मौलि-बन्धान् - मुकुट की मणियों को, उत्सृज्य - छोड़कर, दिव्यस्रजः - मनोज्ञ पुष्पमाला स्वर्ग से आये हुए देवों के मुकुटों की दिव्य पुष्पमाला, भवतः पादौ श्रयन्ति - आपके चरणों का आश्रय लेती है, यदि वा - यह कथन सत्य है क्योंकि, सुमनस् - अच्छे मन वाले प्राणी, त्वत्संगमे -

तेरे समीप में ही, रमन्ते एव – रमण करते हैं, परत्र – परलोक में अन्य कुदेवादिक स्थानों में, न रमन्ते – रमण नहीं करते हैं।

भावार्थ : हे देवाधिदेव! आपको नमस्कार करते समय इन्द्रों के मुकुटों में लगी हुई दिव्य पुष्पमालायें आपके श्री-चरणों में गिर जाती हैं वे पुष्पमालायें आपसे इतना प्रेम करती हैं कि उसके पीछे इन्द्रों के रत्न निर्मित मुकुटों को भी छोड़ देती हैं। अर्थात् आपको बड़े-बड़े इन्द्र भी नमस्कार करते हैं।

संसार-समुद्र तारक विभु

त्वं नाथ जन्म-जलधेर्विपराङ्मुखोऽपि,
यत्तारयस्यसुमतो निज-पृष्ठ-लग्नान्।
युक्तं हि पार्थिव-निपस्य सतस्तवैव,
चित्रं विभो यदसि कर्म-विपाक-शून्यः॥२९॥

अन्वयार्थ : नाथ! – हे भगवन्!, त्वं – आप, जन्मजलधेः – संसार-समुद्र से, विपराङ्मुख – विमुख होने पर, यत् अपि – जो भी, निजपृष्ठलग्नान् – स्वकीय पीठ पर लगे हुए वा अपने, असुमतः – अनुयायी भव्य प्राणियों को, तारयसि – पार करते हैं, हि तव – निश्चय से तेरे लिए, युक्तं – युक्त ही है क्योंकि, पार्थिव-नृपस्य – घड़ा अपनी पीठ के पीछे लगे हुए प्राणियों को समुद्र से तारता है; उसी प्रकार हे पृथ्वी पतियों के स्वामी, तीनों लोकों के अधिपति! आप भी अपने भक्तों को संसार से पार करते हो, चित्रं – आश्चर्य है कि घट तो विपाक से युक्त होता है, तब प्राणियों को तारता है परन्तु आप, कर्मविपाकशून्यः – कर्म के विपाक से रहित हो, फिर भी संसारी प्राणियों को तारते हैं।

भावार्थ : हे करुणानिधे! जिस प्रकार जल में अधोमुख पक्का घड़ा अपनी पीठ पर आरूढ़ मनुष्य को जलाशय से पार कर देता है; उसी प्रकार भव-समुद्र से पराङ्मुख हुए आप अपने अनुयायी भव्य जनों को तार देते हो, सो यह उचित ही है; परन्तु घड़ा तो जलाशय से वही पार कर सकता है, जो विपाक सहित है; परन्तु आप तो विपाक रहित होकर तारते हैं। यह आपकी अचिन्त्य महिमा है।

विरोधाभास गुण स्तुति

विश्वेश्वरोऽपि जन-पालक दुर्गतस्त्वं,
किं वाऽक्षर-प्रकृतिरप्यलिपिस्त्वमीश।
अज्ञानवत्यपि सदैव कथंचिदेव,
ज्ञानं त्वयि स्फुरति विश्वविकास हेतुः॥30॥

अन्वयार्थ : जनपालक! - हे जनपालक! त्वं - तुम, विश्वेश्वर - तीन लोक के स्वामी हैं, अपि - फिर भी, दुर्गतः किं - दरिद्र क्यों हो, ईशत्वं - हे स्वामी! आप, अक्षरप्रकृतिः - अक्षर स्वभाव वाले होकर, अपि - भी, अलिपिः - लिपिबद्ध करने की क्षमता से रहित, किं वा - क्यों हो अथवा, अज्ञानवति - अज्ञानवान होने पर, अपि - भी, त्वपि - तेरे में, सदैव - निरन्तर, कथंचित् - किस प्रकार से, विश्वविकासहेतुः - विश्व को प्रकाशित करने में कारणभूत, ज्ञानं किं - ज्ञान क्यों, स्फुरति - स्फुरायमान हो रहा है।

भावार्थ : हे जगत् पालक! आप तीनों लोकों के स्वामी होकर भी निर्धन हैं, अक्षर स्वभाव होकर भी लेखनक्रिया से रहित हैं; इसी प्रकार आप अज्ञानी होकर भी त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती पदार्थों के जानने वाले ज्ञान से विभूषित हैं।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि जिस अलंकार में शब्द से विरोध प्रतीत होने पर भी वस्तुतः विरोध नहीं होता, उसे तो विरोधाभास अलंकार कहते हैं। यहाँ उसी अलंकार का प्रयोग करके कथन किया जा रहा है।

हे भगवन्! आप त्रिलोकीनाथ हैं और कठिनाई से जाने जाते हो। आप अविनश्वर स्वभाव वाले होकर भी आकार रहित हैं, अज्ञानी मनुष्यों की रक्षा करनेवाले हैं। आप में सदा केवलज्ञान प्रकाशित रहता है।

उपसर्ग विजेता पार्श्वनाथ

प्राग्भार-सम्भृत-नभांसि रजांसि रोषा-
दुत्थापितानि कमठेन शठेन यानि।

छायापि तैस्तव न नाथ! हता हताशो,
ग्रस्तस्त्वमीभिरयमेव परं दुरात्मा॥31॥

अन्वयार्थ : नाथ! - हे स्वामिन्! रोषात् - पूर्वोपार्जित राग-द्वेष के कारण, शठेन - मूर्ख, कमठेन यानि - कमठ के द्वारा जो, प्राग्भार-सम्भृतनभांसि - प्राग्भार से व्याप्त किया है आकाश को जिसने, रजांसि - ऐसी रज (धूलि), उत्थापितानि - आपके प्रति उड़ाई थी परन्तु, तैः तव छाया - उस धूलि के द्वारा आपकी छाया, अपि न - भी नहीं, हता - ढक सका, तू - आपके प्रतिबिम्ब को भी स्पर्श नहीं कर सका, हताशः - परन्तु नष्ट हो गयी है आशा जिसकी अर्थात् निराश होकर, अयं दुरात्मा - वह दुष्ट कमठ, एव - ही, अमीभिः ग्रस्तः - उस कर्मरूपी धूलि के द्वारा मलीन हो गया।

भावार्थ : हे जितशत्रो! आपके पूर्व भव के बैरी मूर्ख कमठ ने आप पर भारी धूल उड़ाकर उपसर्ग किया, परन्तु वह धूलि आपके शरीर की छाया को भी नष्ट नहीं कर सकी, आपका कुछ न बिगाड़ सकी। प्रत्युत् तिरस्कार की दृष्टि से किया गया उसका वह कार्य तो दूर रहे, किन्तु विफल मनोरथ, हताश व दुष्ट कमठ का जीव ही कर्म की रजकणों से कसकर जकड़ा गया।

भूत-पिशाचों के द्वारा उपसर्ग

यद्गर्जदूर्जित - घनौघ - मदभ्र - भीम-
भ्रश्यत्तडिन् मुसल-मांसल-घोरधारम्।
दैत्येन मुक्तमथ दुस्तर-वारि दध्ने,
तेनैव तस्य जिन-दुस्तर-वारिकृत्यम्॥32॥

अन्वयार्थ : जिन! - हे जिनेश्वर!, दैत्येन यत् - कमठचर जीव दैत्य के द्वारा जो, गर्जदूर्जित-घनौघं - भयंकर गर्जनावाले मेघों का समूह है जिसमें ऐसी, अदभ्रभीम - अत्यन्त भयंकर, भ्रश्यत्तडित-मुसलमांसल-घोरधारं - चमकती एवं कड़कती हुई बिजली के साथ घोर शब्द करती हुई मूसलधार है जिसमें ऐसी, दुस्तरवारि - दुस्तर पानी

की वर्षा, मुक्तं अथ - की थी अथवा तेन - उस मूसलाधार पानी के द्वारा, तस्य - उस दैत्य के लिए, एव - ही (कठोर), दुस्तरवारिकृत्यं - दुस्तर तलवार का काम, दग्ने - किया गया।

भावार्थ : हे महाबल! आप पर मूसलाधार पानी बरसा कर कमठ ने जो महान उपसर्ग किया था, उससे आपका क्या बिगड़ा? परन्तु उसी ने स्वयं अपने लिए तलवार का घाव कर लिया। अर्थात् ऐसा खोटा कृत्य करने के कारण स्वयं उसने घोर पाप कर्मों का बन्ध कर लिया।

भूत-पिशाचों के द्वारा उपसर्ग

ध्वस्तोर्ध्व-केशविकृताकृति-मर्त्यमुण्ड-

प्रालम्बभृद्-भयदवक्त्र-विनिर्यदग्निः।

प्रेतव्रजः प्रति भवन्तमपीरितो यः,

सोऽस्याभत्प्रतिभवं भव-दुःख-हेतुः॥33॥

अन्वयार्थ : ध्वस्तोर्ध्व-केश-विकृताकृतिमर्त्यमुण्ड-प्रालम्बभृद् - इधर-उधर बिखरे पड़े हुए तथा ऊपर को उठे हुए विकराल केशों के समूह से विकृत आकृति चिह्नों से ऐसे मनुष्य के मुण्डों की माला को धारण किये हुए हैं, भयद-वक्त्र-विनिर्यत्-अग्निः - जिनके भयंकर मुखों से अग्नि निकल रही है ऐसे, यः - जो, प्रेतव्रजः - भूत-पिशाचों का समूह, भवन्तं - आपके प्रति, ईरितः - भेजे थे, प्रेरित किये थे, सः - वह प्रेतों का समूह, अपि - भी, अस्य - इस कमठ दैत्य जीव दैत्यक, प्रतिभवं - भव-भव में, भव दुःख हेतु-संसार दुःख का कारण, अभवत् - हुआ था।

भावार्थ : हे स्वामी! कमठ के जीव ने आपको कठोर तपस्या से चलायमान करने की खोटी नियत से जो विकराल पिशाचों का समूह आपकी तरफ उपद्रव करने के लिए दौड़ाया था, उससे आपका कुछ भी बिगड़ नहीं हुआ; परन्तु उस क्रूर कमठ के ही अनेक खोटे कर्मों का बन्ध हुआ, जिससे उसे भव-भव में असह्य यातनाएँ झेलनी पड़ीं।

प्रभु भक्त धन्यवाद का पात्र

धन्यास्त एव भुवनाधिप ये त्रिसंध्य-
माराधयन्ति विधिवद्विधुतान्य-कृत्याः।
भक्त्योल्लसत्पुलक-पक्षमल-देहदेशाः,
पाद-द्वयं तव विभो भुवि जन्मभाजः॥34॥

अन्वयार्थ : भुवनाधिप! - हे तीन लोक के अधिपति भगवन्! ये जन्मभाजः - जो संसारी प्राणी, विधुतान्यकृत्याः - छोड़ दिया हैं अन्य कार्यों को जिन्होंने अर्थात् सम्पूर्ण संसारी कार्य संबंधी चिन्ता को छोड़कर, भक्त्या - भक्ति से, उल्लसत्-पुलक-पक्षमल देहदेशाः - प्रकट हुए रोमांच से व्याप्त हैं शरीर के अवयव जिनके, अर्थात् आपके गुणगान के हर्ष से सारा शरीर रोमांचित हो गया है ऐसा होकर, विधिवत् - शास्त्रोक्त विधि से, त्रिसंध्यम् तव - त्रिकाल आपके, पादयुगं - दोनों चरणों की, आराधयन्ति - आराधना करते हैं, विभो - हे भगवन्!, भुवि - पृथ्वी पर, ते - वे, एव - ही, धन्याः - धन्य हैं।

भावार्थ : हे त्रिलोकीनाथ! जो प्राणी भक्ति से उत्पन्न रोमांचों से पुलकित होकर सांसारिक अन्य कार्यों को छोड़कर तीनों संध्याओं में विधिपूर्वक आपके चरणों की आराधना करते हैं, संसार में वे ही धन्य हैं।

प्रभु नाम-स्मरण से विपदा मुक्ति

अस्मिन्नपार-भव-वारिनिधौ मुनीश!
मन्ये न मे श्रवण-गोचरतां गतोऽसि।
आकर्णिते तु तव गोत्र-पवित्र-मन्त्रे,
किं वा विपद्विषधरी सविधं समेति॥35॥

अन्वयार्थ : मुनीश! - हे मुनीश!, मन्ये अस्मिन् मैं ऐसा मानता हूँ कि इस, अपारभव-वारिनिधौ - अपार संसार-समुद्र में आप, न श्रवण-गोचरतां - मेरे कर्णगोचर नहीं, गतोऽसि - हुए हैं अर्थात् आपका नाम मेरे कर्णगोचर नहीं हुआ, तु वा

– पादपूर्ण में है अथवा, तव – आपके, गोत्र-पवित्रमन्त्रे – नाम रूपी पवित्र मंत्र को, आकर्णिते – सुन लेने पर, विपद्-विषधरी – विपद् रूपी सर्पिणी, किं – क्या, सविधं – समीपता को, समेति – प्राप्त हो सकती है अर्थात् नहीं हो सकती?

भावार्थ : हे संकट मोचन! इस अपार संसार-सागर में मैंने आपका नाम नहीं सुना अर्थात् आपकी उत्तम कीर्ति मेरे कानों द्वारा नहीं सुनी गयी, क्योंकि निश्चय से यदि आपका नामरूपी पवित्र मंत्र मैंने सुना होता तो क्या विपत्तिरूपी नागिन मेरे समीप आती? अर्थात् कभी नहीं आती।

प्रभु-पद पूजे बिन, मिले विपद

जन्मान्तरेऽपि तव पाद-युगं न देव,
मन्ये मया महितमीहित-दान-दक्षम्।
तेनेह जन्मनि मुनीश पराभवानां,
जातो निकेतनमहं मथिताशयानाम्॥36॥

अन्वयार्थ : मुनीश! – हे जिनवर! मन्ये – मैं मानता हूँ कि, मया – मैंने, जन्मान्तरे – भव-भवान्तरों में, अपि – भी अर्थात्, कभी भी, ईहितदानदक्षं – इच्छित फल को देने में समर्थ ऐसे, तव – आपके, पाद-युगं महितं न – चरण-कमलों की पूजा नहीं की, देव! – हे देव!, तेन – इसलिए, अहं – मैं, इह जन्मनि – इस जन्म में, मथिताशयानां – आलोड़ित किया है चित्त को जिन्होंने ऐसी, पराभवानां – आपदाओं का, निकेतनं – स्थान, जातः – हुआ हूँ।

भावार्थ : हे भगवन्! मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि पहले के अनेक जन्मों में मैंने मनोवांछित फलों के देने में पूर्ण समर्थ आपके पवित्र चरणों की पूजा नहीं की। इसी से इस जन्म में मैं मर्मभेदी तिरस्कारों का आगार बना हुआ हूँ।

दर्शन बिन दुःख पाये

नूनं न मोह-तिमिरावृतलोचनेन,
पूर्वं विभो सकृदपि प्रविलोकितोऽसि।

मर्मा विभो विधुरयन्ति हि मामनर्थाः,

प्रोद्यत्प्रबन्ध-गतयः कथमन्यथैते॥37॥

अन्वयार्थ : ननूं विभो! - हे भगवन्! निश्चय से, मोहतिमिरावृत्त-लोचनेन - मोहरूपी अन्धकार से आच्छादित नेत्र वाले मैंने, पूर्व सकृत् अपि - पूर्व में एक बार भी, न प्रविलोकितोऽसि - अवलोकन नहीं किए गये हों, अन्यथा - यदि एक बार भी आपके भाव-विभोर होकर दर्शन कर लेता तो, हि - निश्चय से, प्रोद्यत्प्रबन्धगतयः - उदीयमान है कर्मबन्ध की गति जिसमें अर्थात् अत्यन्त कर्म बन्ध के कारण वा अति तीव्र पाप कर्म का उदय है जिसमें ऐसे, एते मर्मविधः - ये मर्म भेदक, अनर्थाः - जन्म, जरा, मृत्यु, दुःख, शोक आदि अनर्थ, माम् कथं - मुझको कैसे, विधुरयन्ति - दुःख देते? अर्थात् नहीं।

भावार्थ : हे कष्टनिवारक देव! मोहरूपी सघन अन्धकार से आच्छादित नेत्रसहित मैंने पूर्व जन्मों में कभी एक बार भी निश्चयपूर्वक आपको अच्छी तरह नहीं देखा, ऐसा मुझे दृढ़ विश्वास है। यदि मैंने कभी आपका दर्शन किया होता तो उत्कट संसार परम्परा के वर्द्धक मर्मभेदी अनर्थ मुझे क्यों दुःखी करते? क्योंकि आपके दर्शन करने वालों को कभी कोई भी अनर्थ दुःख नहीं पहुँचा सकता।

भावशून्य क्रिया फलदायक नहीं

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,

नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।

जातोऽस्मि तेन जन-बान्धव दुःखपात्रं,

यस्मात्क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः॥38॥

अन्वयार्थ : आकर्णितः अपि - आपके नाम को सुना भी, महितः अपि - आपकी पूजा भी की है, निरीक्षितः अपि - आपके दर्शन भी किये हैं परन्तु, मया - मुझ अज्ञानी ने, नूनं - निश्चय से, भक्त्या चेतसि - भक्तिपूर्वक चित्त में, न - नहीं, विधृतोऽसि - धारण किया है, तेन - इसलिए ही, जनबान्धवः - हे जगत्जन के बन्धु भगवान, दुःखपात्रं - दुःखों का भाजन, जातः अस्मि - हुआ हूँ, यस्मात् - क्योंकि,

भावशून्याः - भावशून्य, **क्रियाः** - क्रियायें, **प्रतिफलन्ति** - फलदायक नहीं होती।

भावार्थ : हे जगबान्धव! पहले किन्हीं जन्मों में मैंने यदि आपका नाम भी सुना हो, आपकी पूजा भी की हो तथा आपका दर्शन भी किया हो तो भी यह निश्चय है कि मैंने भक्तिभाव से आपको अपने हृदय में कभी भी धारण नहीं किया; इसलिए तो अब तक इस संसार में मैं दुःखों का पात्र ही बना रहा; क्योंकि भावरहित क्रियायें फलदायक नहीं होतीं।

दुःख-नाशक प्रार्थना

त्वं नाथ दुःखि-जन-वत्सल हे शरण्य,
कारुण्य-पुण्य-वसते वशिनां वरेण्य!
भक्त्या नते मयि महेश दयां विधाय,
दुःखांकुरोद्दलन-तत्परतां विधेहि॥39॥

अन्वयार्थ : नाथ! - हे स्वामिन्! दुःखिजनवत्सल - दुःखी जनों के बन्धु, हे शरण्य - हे शरण लेने योग्य, कारुण्यपुण्य-वसते! - हे करुणारूप पुण्य के स्थान, वशिनां - यतियों में, वरेण्य! - श्रेष्ठ, महेश! - महेश्वर, भक्त्या - भक्तिपूर्वक, नते - नमस्कार करने वाले, मयि - मुझ पर, दयां - दया को, विधाय - करके, दुःखांकुरोद्दलन-तत्परतां - दुःखों के अंकुरों का निराकरण, विधेहि - करो।

भावार्थ : हे दयालुदेव! आप दीनदयाल, शरणागत प्रतिपाल, दयानिधान, इन्द्रियविजेता, योगीन्द्र और महेश्वर हैं; अतः सच्ची भक्ति से नम्रीभूत मुझ पर दया करके मेरे दुःखांकुरों के नाश करने में तत्परता कीजिए।

प्रभु चिन्तन बिन जीवन निःसार

निःसंख्य-सार-शरणं शरणं शरण्य-
मासाद्य सादित-रिपु प्रथितावदानम्
त्वत्पाद पंकजमपि प्रणिधान-बन्धयो,
वन्ध्योऽस्मि चेद्भुवनपावन हा हतोऽसि॥40॥

अन्वयार्थ : भुवनपावन! - हे तीन लोक को पवित्र करने वाले भगवन्!
निःसंख्यसारशरणं - संख्यारहित सारभूत पदार्थों का स्थान, **शरणं** - सबके रक्षक,
शरण्यं - शरणागत प्रतिपालक, **सादित-रिपुः** - कर्म शत्रुओं को जीतने वाले जो
 भगवान की शरण में जाते हैं, उनके कर्म नष्ट हो जाते हैं। **प्रथितावदानं** - विख्यात है
 महिमा जिसकी ऐसे, **त्वद्पादपंकजं** - तेरे चरणकमलों को, **आसाद्य अपि** - प्राप्त
 करके भी, **प्रणिधान्यवन्ध्यः** - आपके गुणों का श्रद्धाभक्ति से चिन्तन नहीं किया
 इसीलिए, **वन्ध्यः** - निष्फल रहा, मैं अभागा रहा, **हा** - खेद के साथ, **हतः अस्मि** -
 मैं मर गया।

भावार्थ : हे भुवन पावन! आपके अशरण-शरण, शरणागत प्रतिपालक, कर्मविजेता
 और प्रसिद्ध प्रभावशाली चरण-कमलों को प्राप्त करके भी यदि मैंने उनका चिन्तन नहीं
 किया तो मुझ सरीखा अभागा कोई नहीं।

रक्षा प्रार्थना

देवेन्द्र-वन्द्य विदिताखिल-वस्तुसार!
 संसार-तारक विभो भुवनाधिनाथ।
 त्रायस्व देव करुणा-हृद मां पुनीहि,
 सीदन्तमद्य भयद-व्यसनाम्बु-राशेः॥41॥

अन्वयार्थ : देवेन्द्रवन्द्य! - हे देवेन्द्र के द्वारा पूज्य भगवान्! **विदिताखिल-**
वस्तुसार - जान लिया है सर्ववस्तु के सार को जिसने, ऐसे सम्बोधन में हे विदिताखिल
 वस्तुसार! **संसारतारक** - हे संसार-तारक जिनेश्वर!, **करुणाहृद** - करुणा हृदय,
विभो - स्वामिन्! **भुवनाधिनाथ!** देव - हे त्रिलोकीनाथ देव! **व्यसनाम्बुराशेः** -
 भयदायी दुःखसमुद्र से, **अद्य** - आज, **सीदन्तं** - दुःखों से पीड़ित, **मां** - मुझको,
त्रायस्व - सुरक्षित करो, **पुनीहि** - पवित्र करो।

भावार्थ : हे देवेन्द्रवन्द्य! सर्वज्ञ, जगत्तारक, दयासागर, जिनेन्द्र देव! आज मुझ
 दुखिया की रक्षा करो तथा अति भयानक दुःखसागर से बचाओ।

भक्ति फल की याचना

यद्यस्ति नाथ! भवदङ्घ्रि-सरोरुहाणां,
भक्तेः फलं किमपि सन्तत-सञ्चितायाः।
तन्मे त्वेदक-शरणस्य शरण्य भूयाः,
स्वामी त्वमेव भुवनेऽत्र भवान्तरेऽपि॥42॥

अन्वयार्थ : नाथ! - हे नाथ! त्वेदक-शरणस्य मे - तेरी ही है एक शरण जिसको ऐसे मुझे मेरे, संतत-संचितायाः - निरंतर संचित की हुई, भवत्-अङ्घ्रिसरोरुहाणां - आपके चरण-सरोज की, भक्तेः - भक्ति का यदि, किमपि - कुछ भी, फलं - फल, अस्ति - है, तत् - तो, शरण्य - हे आश्रयदाता भगवन्! अत्र - इस, भुवने - भव में और भवान्तरे - भवान्तरों में, अपि - भी, त्वमेव - आप ही, स्वामी - स्वामी, भूयाः - होवें।

भावार्थ : हे नाथ! आपकी स्तुति करके मैं आपसे अन्य किसी फल की चाह नहीं रखता। मैं तो केवल यही चाहता हूँ कि भव-भवान्तरों में सदा ही केवल आप ही मेरे स्वामी रहें, जिससे कि मैं आपको अपना आदर्श बनाकर मैं भी अपने को आपके समान बना सकूँ।

भक्ति की विधि

इत्थं समाहित-धियो विधिवज्जिनेन्द्र!
सान्द्रोल्लसत्पुलक - कञ्चुकितांगभागाः।
त्वद्बिम्ब-निर्मल-मुखाम्बुज-बद्धलक्ष्या,
ये संस्तवं तव विभो रचयन्ति भव्याः॥43॥

अन्वयार्थ : जिनेन्द्र! - हे जिनेन्द्र भगवान! इत्थं - इस प्रकार, समाहितधियः - सावधान बुद्धिवाले, त्वद्बिम्बनिर्मलमुखाम्बुज-बद्धलक्ष्याः - आपके बिम्ब के निर्मल मुखकमल के प्रति बाँधा है लक्ष्य जिन्होंने ऐसे, ये - जो, भव्याः - शुद्ध सम्यग्दर्शन के धारक भव्य शिरोमणि, सान्द्रोल्लसत्पुलक-कञ्चुकितांगभागाः - अत्यन्त

उल्लसित घोर पुलक से व्याप्त हैं अंग भाग जिनका ऐसे प्राणी, **विभो!** – हे स्वामिन्!
विधिवत् – विधिपूर्वक, **तव** – तुम्हारे, **संस्तवं** – स्तोत्र, **रचयन्ति** – रचते हैं।

भावार्थ : हे जितेन्द्रिय जिनेश्वर! जो भव्यजन उपर्युक्त प्रकार से प्रमादरहित होकर आपके दैदीप्यमान मुखारविन्द की ओर टकटकी लगाकर और सघन तथा उठे हुए रोमांच रूपी वस्त्र पहनकर विधिपूर्वक आपकी स्तुति करते हैं।

यह श्लोक अंतिम श्लोक से जुड़ा हुआ है। शेष अर्थ अंतिम श्लोक पढ़कर समझना चाहिए।

भक्ति का फल स्वर्ग-मोक्ष सम्पदा

जननयन-‘कुमुदचन्द्र’ प्रभास्वराः स्वर्गसम्पदो भुक्त्वा।

ते विगलित-मल-निचया अचिरान्मोक्षं प्रपद्यन्ते॥४४॥

अन्वयार्थ : जननयन-कुमुदचन्द्र! – लोक के नयनरूपी कुमुदों को आनन्द देने के लिए चन्द्रमा के समान भगवन्! ते – आपका स्तोत्र रचने वाले, **प्रभास्वराः** – अनेक प्रकार से दैदीप्यमान भव्य प्राणी, **स्वर्गसम्पदः** – स्वर्गीय सम्पदा को, **भुक्त्वा** – भोग करके, **विगलितमलनिचया** – अष्ट कर्मरूपी मल समूह को नष्टकर अर्थात् जिनके कर्म रूपी मल समूह नष्ट हो गया है ऐसे, ते – वे, **अचिरात्** – शीघ्र ही, **मोक्षं** – मोक्ष, **प्रपद्यन्ते** – प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ : वे भव्य देवलोक की सुखकर विविध सम्पत्तियों को भोगकर अष्ट कर्म रूपी मल को आत्मा से दूर कर अविलम्ब अविनाशी मोक्ष-सुख पाते हैं।

॥ इति श्री कल्याणमन्दिरस्तोत्रम् ॥

21. श्री एकीभावस्तोत्रम्

(मुनि श्री वादिराज कृत)

मन्दाक्रान्ता छन्द

एकीभावं गत इव मया, यः स्वयं कर्मबन्धो,
घोरं दुःखं भव-भव गतो, दुर्निवारः करोति।
तस्याप्यस्य त्वयि जिनरवे!, भक्तिरुन्मुक्तये चेज्,
जेतुं शक्यो भवति न तथा, कोऽपरस्तापहेतुः॥1॥

अन्वयार्थ : जिनरवे - हे जिन रूपी सूर्य! मया - मेरी आत्मा के, सह - साथ स्वयम् - अपने आप, एकीभावम् - तन्मयता को, गतः इव - प्राप्त हुए की तरह दुर्निवारः - बड़ी कठिनाई से दूर करने योग्य जिनका अलग करना बड़ा कठिन है ऐसे, यः - जो, कर्मबंधः - ज्ञानावरणादि अष्ट प्रकार का अथवा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से होने वाला चार प्रकार का कर्मबन्ध, भवभवगतः सन् - प्रत्येक पर्याय में साथ जाता हुआ, घोरम् - भयानक, दुःखम् - दुःख को, करोति - करता है, त्वयि - आपके विषय में होने वाली, भक्तिः - भक्तिगुण अनुराग विशेष, चेत् - यदि, तस्य अपि अस्य - उस कर्मबन्ध का और इस दुःख के भी, उन्मुक्तये - छुड़ाने-दूर करने के लिए है, तर्हि - तो फिर, तथा - उस भक्ति के द्वारा, अपरः - दूसरा, कः - कौन, तापहेतुः - सन्ताप का कारण, जेतुं शक्यः न भवति - जीत नहीं जा सकता? अर्थात् अवश्य जीता जा सकता है।

भावार्थ : हे जिनेन्द्र! जबकि आपकी समीचीन भक्ति के द्वारा चिर-परिचित और अत्यन्त दुःखदायी एवं आत्मा के साथ दूध-पानी की तरह मिले हुए कर्मबन्धन भी दूर किये जाते हैं, तब दूसरा ऐसा कौन-सा सन्ताप का कारण है, जो कि उस भक्ति के द्वारा दूर नहीं किया जा सकता अर्थात् दुःख के सभी कारण नष्ट किये जा सकते हैं।

ज्योतीरूपं दुरितनिवह, ध्वान्तविध्वंसहेतुं,
त्वामेवाहर्जिनवर! चिरं, तत्त्व-विद्याभियुक्ताः।

चेतोवासे भवसि च मम, स्फारमुद्भासमानस्,
तस्मिन्नंहः कथमिव तमो, वस्तुतो वस्तुमीष्टे।।2।।

अन्वयार्थ : जिनवर! – कर्म-शत्रुओं को जीतने वालों में श्रेष्ठ हे जिनेन्द्र! जब कि तत्त्वविद्याभियुक्ताः – तत्त्वज्ञानी गणधरादि देव, चिरं – चिरकाल से अनादिकाल से, त्वाम् एव – आपको ही, दुरित – पाप, निवह – समूहरूपी, ध्वान्त – अंधकार के, विध्वंस – नाश करने में, हेतुम् – कारणभूत, ज्योतिरूपम् – तेजरूप ज्ञानस्वरूप, आहुः – कहते हैं, च – और, मम – मेरे/हमारे, चेतोवासे – मनरूपी मन्दिर में, स्फारं – अत्यन्त रूप से निरंतर, उद्भासमानः – प्रकाशमान, भवसि – हो रहे हो तब, तस्मिन् – उस मन मन्दिर में, वस्तुतः – निश्चय से अहं – पापरूपी, तमः – अन्धकार, वस्तुम् – निवास करने के लिए, ठहरने के लिए, कथमिव – किस तरह, ईष्टे – समर्थ हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

भावार्थ : हे नाथ! जबकि आपको अतिशय बुद्धि के धारक गणधरादि देवों ने, पापरूपी अन्धकार को नाश करने के लिए सूर्य के समान कहा है और आप मेरे मन-मन्दिर में अच्छी तरह से प्रकाशमान भी हो रहे हैं, तब उसमें पापरूपी अंधकार कैसे ठहर सकता है? अर्थात् जो आपको अपने हृदय में धारण करता है, उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं।

आनन्दाश्रुस्नपित-वदनं, गद्गदं चाभिजल्पन्,
यश्चायेत त्वयि दृढ-मनाः, स्तोत्र-मन्त्रैर्भवन्तम्।
तस्याभ्यस्तादपि च सुचिरं, देह-वल्मीकमध्यान्,
निष्कास्यन्ते विविधविषम-व्याधयः काद्रवेयाः।।3।।

अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! आनन्दाश्रु च गद्गदं – आनन्दाश्रुओं-हर्षरूपी आँसुओं से, वदनं स्नपित – मुख को प्रक्षालित करता हुआ और अव्यक्त ध्वनि से, अभिजल्पन् – स्तुति करता हुआ, यः – जो मनुष्य आपके विषय में, दृढमनाः – स्थिर चित्त होकर, स्तोत्रमन्त्रैः – स्तवन रूप मंत्रों से, भवन्तम् आपको, अयेत – पूजता है/स्तुति करता है, तस्य – उसके, सुचिरम् – चिरकाल से, अभ्यस्तात् अपि – परिचित भी, देह – शरीर रूपी, वल्मीक – वामी के, मध्यात् – मध्य से/बीच से, विविध – अनेक

प्रकार के कठिन, विषमव्याधयः – रोग रूपी, काद्रवेयाः – साँप, निष्कास्यन्ते – बाहर निकाल दिये जाते हैं।

भावार्थ : जिस प्रकार समीचीन मंत्रों की सामर्थ्य से वामी के मध्य भाग से साँप बाहर निकाल दिये जाते हैं; ठीक उसी प्रकार जिनेन्द्र के स्तवन रूप मंत्रों से स्तवन-पूजन करने वाले भव्य पुरुषों की विषम विषयरूप व्याधियाँ भी दूर कर दी जाती हैं। अर्थात् जो मनुष्य भक्तिपूर्वक श्रद्धा से सम्पन्न होकर एकाग्रचित्त से जिनेन्द्र भगवान का पवित्र स्तवन करता है, उसके पुरातन विषम रोग भी दूर हो जाते हैं और उसका शरीर नीरोग बन जाता है।

प्रागेवेह त्रिदिवभवना-देष्यता भव्यपुण्यात्,
पृथिवीचक्रं कनकमयतां, देव निन्ये त्वयेदम्।
ध्यानद्वारं मम रुचिकरं, स्वान्तगेहं प्रविष्टम्,
तत्किं चित्रं जिन! वपुरिदं, यत्सुवर्णीकरोषि॥४॥

अन्वयार्थ : हे देव! – हे भगवन्!, भव्यपुण्यात् – भव्य जीवों के पुण्य द्वारा, इह – यहाँ पर, त्रिदिवभवनात् – स्वर्ग लोक से माता के गर्भ में, एष्यता – आने वाले, त्वया – आपके द्वारा, प्राक् एव – पहले ही जब, इदम् – यह, पृथ्वीचक्रम् – भूमण्डल/पृथ्वी मण्डल, कनकमयतां – सुवर्णमयता को, सुवर्ण जैसी अवस्था को, निन्ये – प्राप्त कराया गया था। तब, हे जिन! – हे जिनेन्द्र!, ध्यानद्वारं – ध्यानरूपी दरवाजे से युक्त, मम – मेरे/हमारे, रुचिकरम् – सुन्दर, स्वांतगेहं – मनरूप मन्दिर में, प्रविष्टः – प्रविष्ट हुए, इदं वपुः – इस शरीर को/कुष्ठ रोग से पीड़ित मेरे इस शरीर को, यत् – जो, सुवर्णीकरोषि – सुवर्णमय कर रहे हो, तत्किं चित्रम् – उसमें क्या आश्चर्य है? अर्थात् कुछ नहीं।

भावार्थ : जबकि स्वर्गलोक से माता के गर्भ में आने के छह महीने पहले ही आपने इस पृथ्वीमण्डल को सुवर्णमय बना दिया तो फिर ध्यान के द्वारा मेरे मनोहर अन्तःकरणरूप मन्दिर में प्रविष्ट हुए आप कुष्ठ रोग से पीड़ित मेरे इस शरीर को यदि सुवर्णमय बना दें तो इसमें क्या आश्चर्य है अर्थात् कुछ नहीं।

लोकस्यैकस् त्वमसि भगवन् निर्निमित्तेन बन्धुस्,
त्वय्येवासौ सकल-विषया, शक्तिरप्रत्यनीका।
भक्तिस्फीतां चिरमधिवसन्, मामिकां चित्तशय्यां,
मय्युत्पन्नं कथमिव ततः, क्लेशयूथं सहेथाः॥5॥

अन्वयार्थ : भगवन्! – हे भगवन्! जब आप संसार के प्राणियों के, निर्निमित्तेन – स्वार्थ रहित बिना किसी प्रयोजन के, एकः – अद्वितीय, बन्धुः असि – हित करने वाले हो। और, असौ – यह, सकलविषया शक्तिः – सब पदार्थों को विषय करने वाली शक्ति भी, त्वयि – आपमें ही, अप्रत्यनीका – बाधा रहित है, ततः – तब, भक्तिस्फीताम् – भक्ति के द्वारा विस्तृत, मामिकां – मेरी/हमारी, चित्तशय्याम् – मन रूपी पवित्र शय्या पर, अधिवसन् – निवास करने वाले आप, मयि – मुझमें, उत्पन्नम् – उत्पन्न हुए, क्लेशयूथम् – दुःख समूह को, कथमिव – कैसे, सहेथाः – सहन करेंगे अर्थात् नहीं करेंगे।

भावार्थ : हे नाथ! आप संसारी जीवों के अकारण बंधु हैं और आपकी सकल पदार्थ विषयक यह अपूर्व एवं अनन्त शक्ति प्रतिपक्षी कर्मों के प्रतिघात से रहित है, क्योंकि वह कर्म के क्षय से उत्पन्न हुई है। फिर आप चिरकाल तक हमारे पवित्र मन-मन्दिर में निवास करते हुए भी क्या हमारे दुःखों को नाश नहीं करेंगे अर्थात्/ अवश्य ही करेंगे। जो भद्र मानव आपका भक्तिपूर्वक निरन्तर ध्यान एवं चिंतन करता है, उसके दुःख दूर होना तो सहज ही है, किन्तु उसके जटिल कर्मों का बन्धन भी ढीला पड़कर नष्ट हो जाता है और आत्मा विकसित होता हुआ परमात्मा पद को प्राप्त कर लेता है।

जन्माटव्यां कथमपि मया, देव! दीर्घं भ्रमित्वा,
प्राप्तैवेयं तव नयकथा, स्फार-पीयूष-वापी।
तस्या मध्ये हिमकर-हिम, व्यूहशीते नितान्तं,
निर्मग्नं मां जहति कथं, दुःख दावोपतापाः॥6॥

अन्वयार्थ : देव – हे स्वामिन्!, मया – मेरे द्वारा, जन्माटव्यां – संसाररूपी अटवी में, दीर्घं – बहुत काल तक, भ्रमित्वा – घूमकर अथवा घूमने के बाद, तव –

आपकी, इयम् - यह, नयकथा - स्याद्वाद नय कथा रूपी, स्फारपीयूष-वापी - बड़ी भारी अमृत रस से भरी हुई बावड़ी, कथमपि - किसी तरह बड़े कष्ट से, एव - प्राप्त ही कर गई है फिर भी, हिमकर-हिमव्यूहशीते - चन्द्रमा और बर्फ के समूह से भी, शीतलं - शीलत है, तस्याः - उसके मध्ये-बीच में अत्यन्त रूप से, निर्मग्नं - डूबे हुए, माम् - मुझको, दुःखदावोपतापाः - दुःख रूपी दावानल को सन्ताप, कथं न जहति - क्यों नहीं छोड़ते हैं।

भावार्थ : हे स्वामिन्! मुझे इस संसार रूप विषम अटवी में भ्रमण करते हुए और दुःखों को सहते हुए अनन्त काल बीत गया है। अब मुझे बड़े भारी भाग्योदय से यह आपकी स्याद्वादनय रूप अमृत रस से भरी हुई वापिका (बावड़ी) प्राप्त हुई है, जो चन्द्रमा और बर्फ से भी अत्यन्त शीतल है। ऐसी वापिका में उन्मज्जन करते हुए क्या मेरे थोड़े-से दुःख-सन्ताप दूर न होंगे? किन्तु अवश्य ही दूर होंगे।

पादन्यासा-दपि न पुनतो, यात्रया ते त्रिलोकीं,
हेमाभासो भवति सुरभिः, श्री निवासश्च पद्मः।
सर्वाङ्गेण स्पृशति, भगवंस्त्वय्यशेषं मनो मे,
श्रेयः किं तत् स्वयमहरहर्यत्र मामभ्युपैति॥७॥

अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! यात्रया - विहार के द्वारा, त्रिलोकीम् - तीनों लोकों को, पुनतः - पवित्र करने वाले, ते - आपके, पादन्यासात् अपि - चरणों के रखने मात्र से ही जब, पद्मः - कमल, हेमाभासः - सुवर्ण-सी कान्ति वाला, सुरभिः सुगन्धित, च - और, श्री निवासः - लक्ष्मी का गृह अर्थात् शोभा का स्थान हो जाता है। तब, हे भगवन्! - हे स्वामिन्! त्वपि - आपके, मे - मेरे, अशेषम् - समस्त, मनः - मन को, सर्वाङ्गेण - सब/अंगों के द्वारा, स्पृशति सति - स्पर्श करने पर, तत् - वह, किं श्रेयः - कौन-सा कल्याण है?, यत् - जो, माम् - मुझे, अहरहः - प्रतिदिन, स्वयं - अपने आप, न अभ्युपैति - प्राप्त नहीं होता है अर्थात् सभी कुछ प्राप्त होता है।

भावार्थ : सकल परमात्मा अरहंत जब जीवन मुक्तरूप सयोग केवली अवस्था में विहार करते हैं, तब उनके विहार से तीनों लोक पवित्र हो जाते हैं और देवगण उनके पवित्र

चरणों के नीचे कमलों की रचना कर दिया करते हैं और वे कमल जब जिनेन्द्र देव के चरणों के स्पर्श से सुवर्ण-सी कान्तिवाले सुगन्धित एवं लक्ष्मी के निवास बन जाते हैं, तब मेरा मन आपको सर्वांग रूप से स्पर्श कर रहा है अर्थात् मेरे मन-मन्दिर में चैतन्य जिनप्रतिमा का सर्वांग रूप से स्पर्श हो रहा है। अतएव मुझे कल्याणकों का प्राप्त होना उचित ही है। जो भव्य प्राणी जिनेन्द्र भगवान का निष्कपट रूप से भक्तिपूर्वक स्मरण-चिंतन एवं ध्यान करता है, उसे सर्व सुख प्राप्त होते ही हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

पश्यन्तं त्वद्वचनममृतं भक्तिपात्रया पिबन्तं,
 कर्मरण्यात् पुरुषमसमा नन्दधाम-प्रविष्टम्।
 त्वां दुर्वार-स्मर-मद-हरं, त्वत्प्रसादैकभूमिं,
 क्रूराकाराः कथमिव रुजा, कण्टका निर्लुठन्ति॥४॥

अन्वयार्थ : हे नाथ! कर्मरण्यात् - कर्मरूपी वन से, आसमानन्दधाम - अनुपम सुख के स्थान मोक्ष में, प्रविष्टम् - प्रविष्ट हुए। प्रवेश कर, तथा दुर्वार - जिसका जीतना कठिन है ऐसे, स्मर - कामदेव के, मदहरं - मद को हरण करने वाले आपको, पश्यन्तम् - देखने वाले और, भक्तिपात्र्या - भक्तिरूपी कटोरी से, त्वद्वचनममृतम् - आपके वचन रूपी अमृत को, पिबन्तम् - पीने वाले अतएव, त्वत्प्रसादैकभूमिम् - आपकी प्रसन्नता के स्थानभूत, पुरुषं - पुरुष को, क्रूराकाराः - भयंकर आकार वाले, रुजाकण्टकाः - रोग रूपी काँटे, कथमिव - किस तरह निर्लुठन्ति - सता सकते हैं/पीड़ा दे सकते हैं? अर्थात् नहीं दे सकते।

भावार्थ : हे भगवन्! कर्मरूपी वन से निकलकर आपने अनुपम अनंत सुखस्वरूप आनन्दधाम को प्राप्त किया है तथा आप दुर्जय कामदेव के मद को हरण करने वाले हैं। आपको देखने वाले और भक्तिरूपी पात्र से आपने अमृतरूपी वचनों को पाने वाले भव्य पुरुषों को फिर क्रूर आकार वाले रोग रूपी काँटे कैसे पीड़ा दे सकते हैं? अर्थात् नहीं दे सकते।

पाषाणात्मा तदितरसमः केवलं रत्न-मूर्ति-
 र्मानस्तम्भो भवति च परस्तादृशो रत्न-वर्गः।

दृष्टि-प्राप्तो हरति स कथं मान-रोगं नराणां,
प्रत्यासत्तिर्यदि न भवतस्तस्य तच्छक्ति-हेतुः॥9॥

अन्वयार्थ : हे देव! पाषाणात्मा - पत्थररूप, मानस्तम्भः - मानस्तम्भ, तदितरसमः - दूसरे पत्थरों के समान ही है, केवलम् - सिर्फ, रत्नमूर्तिः - रत्नमयी है परन्तु, पर - दूसरे, रत्नवर्गः - रत्नों का समूह भी वैसा ही है/ऐसा होने पर, यदि - यदि, तस्य - उस मानस्तम्भ की, तच्छक्तिहेतुः - वैसी शक्ति में कारण स्वरूप, भवतः - आपकी, प्रत्यासत्तिः - निकटता न होती तो, सः - वह मानस्तम्भ, दृष्टिप्राप्तः - देखने मात्र से ही, नराणाम् - मनुष्यों के, मानरोगं - मान/अहंकार रूपी रोग को, कथं हरति? - कैसे हर सकता है अर्थात् नहीं हर सकता।

भावार्थ : पत्थर का बना हुआ मानस्तम्भ भी दूसरे साधारण पत्थरों के समान ही है रत्नमय होना उसकी कोई विशेषता नहीं कही जा सकती, क्योंकि उसके समान और भी रत्न होते हैं परन्तु उनमें मान हरण करने की शक्ति नहीं होती, इस कारण से मानस्तम्भ में मनुष्यों के मान हरण करने की शक्ति का अस्तित्व मालूम नहीं होता। अतएव यह स्पष्ट है कि उसकी ऐसी शक्ति में आपकी समीपता ही कारण है। यदि आपकी समीपता न होती तो गौतम जैसे महामानी विद्वानों का अभिमान कैसे दूर होता? इस कारण उस रत्नमयी मानस्तम्भ में यह अपूर्व शान्ति आपके प्रसाद से प्राप्त हुई जान पड़ती है।

हृद्यः प्राप्तो मरुदपि भवन्मूर्ति-शैलोपवाही,
सद्यः पुंसां निरवधि-रुजा-धूलिबन्धं धुनोति।
ध्यानाहृतो हृदय-कमलं यस्य तु त्वं प्रविष्ट-
स्तस्याशक्यः क इह भुवने देव! लोकोपकारः॥10॥

अन्वयार्थ : देव! - हे स्वामिन्! जब, भवन्मूर्ति-शैलोपवाही - आपके शरीर रूपी पर्वतों के पास से बहने वाली, हृद्यः - मनोहर, मरुद् अपि - हवा भी, प्राप्तः सन् - प्राप्त होती हुई, पुंसां - पुरुषों के, निरवधि - मर्यादारहित, रुजा - रोग रूपी, धूलिबन्धम् - धूली के संसर्ग को, सद्यः - शीघ्र ही, धुनोति - दूर कर देती है, तु - तब, ध्यानाहृतः - ध्यान के द्वारा बुलाये गये, त्वम् - आप, यस्य - जिसके,

हृदयकमलं – हृदयरूपी कमल में, **प्रविष्टः** – प्रविष्ट हुए हैं, **तस्य** – उस पुरुष को इस, **भुवने** – इस संसार में, **कः** – कौन-सा, **लोकोपकारः** – लोगों का उपकार, **अशक्यः** – अशक्य है/नहीं करने योग्य है। अर्थात् कोई भी नहीं।

भावार्थ : हे नाथ! जबकि आपके शरीर के पास से बहने वाली वायु भी, लोगों के तरह-तरह के रोग दूर कर देती है; तब आप जिस भव्य पुरुष के हृदय में विराजमान हो जाते हैं, वह संसार के प्राणियों का कौन-सा उपकार नहीं कर सकता अर्थात् लोक सच्ची-सजीव सेवा करना अथवा आहार पान, औषधादि के द्वारा दीन-दुखियों की सेवा कर उन्हें दुःख से उन्मुक्त करना तो सरल है; परन्तु जब कोई भद्र मानव जिनेन्द्र भगवान को अपने हृदयवर्ती बना लेता है और स्तुति-पूजा-ध्यानादि के द्वारा उनके पवित्र गुणों का स्तवन-पूजन-वंदनादि किया करता है एवं उनके कदमों पर चलकर पदानुकूल प्रवृत्ति करने लगता है, तब उस भव्य पुरुष के अनादिकालीन कर्मबंध भी उसी तरह शिथिल होने लगते हैं, जिस तरह चन्दन के वृक्ष पर मोर के आने पर सर्पों के बन्धन ढीले पड़कर वे नीचे खिसकने लगते हैं।

जानासि त्वं मम भव-भवे यच्च यादृक्च दुःखं,
जातं यस्य स्मरणमपि में शस्त्रवन्निष्पिनष्टि।
त्वं सर्वेशः सकृप इति च त्वामुपेतोऽस्मि भक्त्या,
यत्कर्तव्यं तदिह विषये देव! एव प्रमाणम्॥11॥

अन्वयार्थ : देव! – हे भगवन्! **मम** – मुझे, **भव भवे** – प्रत्येक पर्याय में, **यत् च यादृक् च** – जो और जैसा/जिस तरह का, **दुःखम्** – दुःख/कष्ट, **जातम्** – प्राप्त हुआ है, **तत्** – उसको, **त्वं** – आप, **जानासि** – जानते ही हैं और, **यस्य** – जिसका **स्मरणमपि** – स्मरण भी, **मे** – मेरे लिए, **शस्त्रवत्** – शस्त्र के समान, तलवार आदि शस्त्र के घात समान, **निष्पिनष्टि** – दुःख देता है और हे नाथ! **त्वम्** – आप, **सर्वेशः** – सबके स्वामी, **च** – और, **सकृपः** – दया से युक्त हैं/दयालु हैं, **इति** – इसलिये **भक्त्या** – भक्तिपूर्वक, **त्वाम् उपेतः अस्मि** – आपके पास आया हूँ/आपकी शरण में प्राप्त हुआ हूँ। अतः अब, **इह विषये** – इस विषय में, **यत्कर्तव्यं** – जो करना चाहिए

उसमें, देव एव प्रमाणम् – आप ही प्रमाण हैं।

भावार्थ : हे भगवन्! इस चतुर्गति रूप संसार में अनादिकाल से भ्रमण करते हुए मैं जो घोर दुःख भोग रहा हूँ, जिनका स्मरण करना भी शास्त्र घात के समान दुःखदाई है। उनको आप अच्छी तरह से जानते ही हैं। आप सिर्फ जानते ही नहीं हैं, किन्तु सबके अकारण बन्धु और दयालु हैं। इसीलिये मैं भक्तिपूर्वक आपकी शरण में आया हूँ। ऐसी दशा में मुझे क्या करना चाहिए। यह आप ही समझ सकते हो। मैंने तो अपनी दशा आपके सामने प्रकट कर दी है।

प्रापद्दैवं तव नुति-पदैर्जीवकेनोपदिष्टैः,
पापाचारी मरण-समये सारमेयोऽपि सौख्यम्।
कः सन्देहो यदुपलभते वासव-श्री प्रभुत्वं,
जल्पञ्जाप्यैर्मणिभिरमलैस्त्वन्नमस्कार-चक्रम्॥12॥

अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! जब मरणसमये – मृत्यु के समय में, जीवकेन – जीवन्धर कुमार के द्वारा (क्षत्रियवंश चूडामणि सत्यंधर राजा के पुत्र जीवंधर कुमार के द्वारा), उपदिष्टैः – बताये गये तब आपके, नुतिपदैः – नमस्कार मंत्र के पदों के स्मरण एवं चिंतन से, पापाचारी – पापरूप प्रवृत्ति करने वाला, सारमेयः अपि – कुत्ता भी, दैवं – देव/स्वर्गलोक सम्बन्धी, सौख्यम् – सुख को, प्रापत् – प्राप्त हुआ है तब, अमलैः – निर्मल, जाप्यैः – जपने योग्य माला को, मणिभिः – मोतियों के द्वारा, त्वन्नमस्कारचक्रम् – आपके नमस्कार मंत्र को, जल्पम् – जपता हुआ, मनुष्य यत् – जो वासव श्री, प्रभुत्वम् – इन्द्र की विभूति के अधिपतित्व को/स्वामीपने को, लभते – प्राप्त होता है। इस विषय में, कः सन्देहः – क्या सन्देह है? अर्थात् इसमें कोई सन्देह नहीं है।

भावार्थ : जब एक पापी कुत्ता भी मृत्यु के समय न कि जीवन भर जीवन्धर कुमार द्वारा बताए हुए मंत्राक्षरों के ध्यान से यक्षों का स्वामी यक्षेन्द्र हो सकता है, तब निर्मल मणियों के द्वारा आपके नमस्कार मंत्र का ध्यान करने वाला भद्र मानव यदि इन्द्र की विभूति को प्राप्त कर ले तो इसमें क्या आश्चर्य है, अर्थात् कुछ आश्चर्य नहीं।

शुद्धे ज्ञाने शुचिनि चरिते सत्यपि त्वय्यनीचा,
भक्तिर्नो चेदनवधि सुखावञ्चिका कुञ्चिकेयम्।
शक्योद्घाटं भवति हि कथं मुक्ति-कामस्य पुंसो,
मुक्ति-द्वारं परिदृढ-महामोह-मुद्रा-कवाटम्॥13॥

अन्वयार्थ : हे नाथ! शुद्धे ज्ञाने - शुद्ध ज्ञान और, शुचिनि चरिते - निर्मल चारित्र के, सत्यपि - रहते हुए भी, चेत् - यदि, त्वयि - आपके विषय में होने वाली, इयम् - यह, अनीचा भक्तिः - उत्कृष्ट भक्ति रूपी, अनवधि - अत्यधिक अमर्यादित, सुखावञ्चिका - सुखों की कारण, कुञ्चिका - कुंजी/ताला-चाबी, नो - नहीं, चेत् - होवे तो, हि (निश्चित ही) सचमुच में, मुक्तिकामस्य - मोक्ष के अभिलाषी, पुंसः - पुरुष को, परिदृढ - अत्यन्त मजबूत, महामोह - महामोहरूपी, मुद्रा - मुहरबन्द ताले से युक्त हैं, कवाटम् - किवाड़ जिसमें ऐसे, मुक्तिद्वारम् - मोक्ष के द्वार को, कथम् - किस तरह, शक्योद्घाटम् - खोला जा सकता है? अर्थात् नहीं खोला जा सकता।

भावार्थ : विशुद्ध ज्ञान और निर्मल चारित्र के रहते हुए भी यदि जिनेन्द्र की भक्तिमय अथवा सम्यग्दर्शनरूप कुंजी नहीं है तो फिर महा मिथ्यात्वरूप मुद्रा से अंकित मोक्ष-मन्दिर का द्वार कैसे खोला जा सकता है? अर्थात् भक्तिरूपी कुञ्चिका के बिना मुक्तिद्वार का खुलना नितान्त कठिन है; परन्तु जिस भद्र मानव के पास जिनेन्द्र की भक्तिरूपी अथवा सम्यग्दर्शनरूपी कुंजी है, वह बहुत जल्दी ही मुक्ति को प्राप्त कर सकता है, क्योंकि सम्यग्दर्शन मोक्षमहल की पहली सीढ़ी है। इसके बिना ज्ञान और चारित्र भी मिथ्या कहलाते हैं; अतः मुक्ति के इच्छुक पुरुषों को सबसे पहले सम्यग्दर्शन को प्राप्त करना ही श्रेयस्कर है।

प्रच्छन्नः खल्वयमघमयैरन्धकारैः समन्तात्,
पन्था मुक्तेः स्थपुटित-पदः क्लेश-गर्तेरगाधैः।
तत्कस्तेन प्रजति सुखतो देव तत्त्वावभासी,
यद्यग्रेऽग्रे न भवति भवद्भारती रत्न-दीपः॥14॥

अन्वयार्थ : देव - हे स्वामिन्! खलु - निश्चय से, अयम् - यह, मुक्तेः - मोक्ष का, पंथा - मार्ग, अघमयैः - पापरूपी, अन्धकारैः - अन्धकार के द्वारा, समन्तात् - सब ओर से, प्रच्छन्नः - ढका हुआ है और, अगाधैः - गहरे, क्लेशगतैः - दुःखरूपी गड्ढों से, स्थुपुटितपदः - कठिन है प्रवेश जिसमें ऐसी अवस्था में, यदि - अगर, तत्त्वावभासी - सच्चाई का बतलाने वाला अथवा सप्त तत्त्वों के द्वारा मोक्षमार्ग का निरूपण करने वाला, भवद्भारती-रत्नदीपः - आपकी वाणीरूपी दीपक का प्रकाश, अग्रे अग्रे - आगे-आगे, न भवति - न होता, तत् - तो, तेन - उस मार्ग से, कः - कौन मनुष्य, सुखतः - सुखपूर्वक, व्रजति - गमन कर सकता है? अर्थात् कोई नहीं।

भावार्थ : हे देव! मुक्ति का मार्ग मिथ्यात्वरूप अज्ञान-अंधकार से व्याप्त है, आच्छादित है और अगाध दुःखरूप गड्ढों से विषम है। दुष्प्रवेश है। ऐसा होने पर भी यदि सप्त तत्त्वों के स्वरूप को प्रकाशित करने वाला अथवा सप्त तत्त्वों के द्वारा मोक्षमार्ग को निरूपण करने वाला आपकी पवित्र दिव्यध्वनिरूप वाणीरूपी दीपक का प्रकाश आगे-आगे नहीं होता तो ऐसा कौन पुरुष है, जो आपकी वाणीरूपी दीपक के प्रकाश के बिना ही उस कंटकाकीर्ण विषम मार्ग से सुखपूर्वक गमन कर सकता है? और अपने इष्ट ध्यान को सुगमता से प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है अर्थात् कोई नहीं।

आत्म-ज्योतिर्निधिरनवधिर्द्रष्टुरानन्द-हेतुः,
कर्मक्षोणी-पटलपिहितो योऽनवाप्यः परेषाम्।
हस्ते कुर्वन्त्यनतिचिरतस्तं भवद्भक्ति भाजः,
स्तोतैर्बद्ध-प्रकृति-परुषोद्दामधारी-खनित्रैः॥15॥

अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! आत्मज्योतिर्निधिः - यह आत्मज्ञान रूप सम्पत्ति, कर्मक्षोणी - ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म रूप, पटल - पटलों से, पिहितः - आच्छादित है/ढँकी हुई है और यः - जो, द्रष्टुः - ज्ञानी पुरुष को, आनन्दहेतुः - आनन्द का कारण है इसलिये, परेषां - अज्ञानियों के द्वारा/मिथ्यादृष्टियों के द्वारा, अनवाप्यः - प्राप्त नहीं हो सकती। किन्तु, भवद्भक्तिभाजः - आपकी भक्ति करने वाले भव्य पुरुष,

तं - उस आत्मज्ञानरूप सम्पत्ति को, बद्ध-प्रकृति-प्रकृति - स्थिति-अनुभाग और प्रदेशबंध रूप परुषोद्दाम - अत्यन्त कठोर, धात्री - भूमि को, खनिजैः - खोदने के लिए कुदाली स्वरूप आपके, स्तोत्रैः - स्तवनों के द्वारा, अनतिचिरतः - शीघ्र ही, हस्ते कुर्वन्ति - अपने हाथ में कर लेते हैं, उसे प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ : जिस प्रकार पृथ्वी में गड़े हुए धन को कुदाल से कठोर भूमि को खोदकर निकाल लेते हैं। ठीक उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मरूप पुद्गल पिण्डों से आच्छादित अपनी ज्ञानादि रूप आत्मसम्पदा को आपके पवित्र स्तवनरूप कुदाल से कर्मबंधनरूप अतिशय कठोर भूमि को खोदकर निकाल लेते हैं; परन्तु मिथ्यादृष्टियों को वह नहीं प्राप्त होती।

प्रत्युत्पन्ना नय-हिमगिरेरायता चामृताब्धेः,
या देव त्वत्पद-कमलयोः संगता भक्ति-गंगा।
चेतस्तस्यां मम रुचि-वशादाप्लुतं क्षालितांहः,
कल्माषं यद्भवति किमियं देव! सन्देह-भूमिः॥16॥

अन्वयार्थ : देव! - हे नाथ! नयहिमगिरेः - स्याद्वाद-नयरूप हिमालय पर्वत से प्रत्युत्पन्ना - उत्पन्न हुई, च - और, अमृताब्धेः - मोक्षरूपी समुद्र तक, आयता - विस्तृत, यः - जो यह त्वत्पदकमलयोः - आपके चरण-कमल सम्बन्धी, भक्तिगंगा - भक्तिरूपी गंगानदी, सङ्गता - प्राप्त हुई है, तस्यां - उसमें, रुचिवशात् - प्रेम के वश, आप्लुतम् - डूबा हुआ, मम - मेरा/हमारा, चेतः - मन, यत् - जो, क्षालितांहः कल्माषं - जिसकी पापरूपी कालिमा धुल गई है ऐसा/पापरूपी रज से रहित, भवति - हो जाता है, देव! - हे नाथ!, इयम् - यह, किम् - क्या कोई, सन्देहभूमिः - सन्देह का स्थान है? अर्थात् नहीं है।

भावार्थ : हे नाथ! स्याद्वाद-नयरूप हिमालय से निकली और मोक्षरूपी समुद्र तक लम्बी यह आपकी भक्तिरूपी गंगा मुझे बड़े भारी भाग्योदय से प्राप्त हुई है। गंगा में स्नान करने से जिस तरह शरीर का बाह्य मैल धुल जाता है और वह स्वच्छ हो जाता है। उसी प्रकार आपकी भक्तिरूपी गंगा में स्नान करने से, उसमें गोता लगाने से यदि मेरे अन्तःकरण

की पापरूप कालिमा धुलकर मेरा मन पवित्र राग-द्वेषादि विभाव भावों से रहित निर्विकार हो जाये, तो इसमें क्या सन्देह है? अर्थात् कुछ नहीं।

प्रादुर्भूत-स्थिर-पद-सुखं त्वामनुध्यायतो मे,
त्वय्येवाहं स इति मतिरुत्पद्यते निर्विकल्पा।
मिथ्यैवेयं तदपि तनुते तृप्तिमश्रेषरूपां,
दोषात्मानोऽप्यभिमत-फलास्त्वप्रसादाद् भवन्ति॥17॥

अन्वयार्थ : प्रादुर्भूत - प्रकट हुआ है, स्थिरपदसुखं - मोक्ष का निश्चल सुख जिनको ऐसे (हे वीतरागदेव), त्वामनुध्यायतः मे - आपका बार-बार ध्यान करते हुए, मे - मेरे हृदय में, त्वयि - आपमें अथवा आपके विषय में, सः अहं एव - जो आप हैं वही मैं हूँ, इति - ऐसी जो, निर्विकल्पा - विकल्प रहित, मतिः - बुद्धि, उत्पद्यते - उत्पन्न होती है यद्यपि, इयम् मिथ्या एव - यह बुद्धि असत्य ही है, तदपि - तो भी, अश्रेषरूपां - निश्चल अविनाशी, तृप्तिं - सन्तोष सुख को, तनुते - विस्तृत करती है। सच है, त्वत्प्रसादात् - आपके प्रसाद से, दोषात्मानः अपि - दोष सहित पुरुष भी, अभिमतफलाः - अभिमत फल को, भवन्ति - प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् जिनका आत्मा सदोषी है/पापरूप-कालिमा से लिप्त है, ऐसे मानव भी आपके प्रसाद से अभिमत फल प्राप्त करते ही हैं।

भावार्थ : हे नाथ! आपके पवित्र अनंत ज्ञानादि गुणों का ध्यान एवं चिंतन करते-करते जो परमात्मा है; सो मैं हूँ और जो मैं हूँ, सो परमात्मा है, जब ऐसी निर्विकल्पात्मक अभेद बुद्धि उत्पन्न हो जाती है; सो यद्यपि यह मिथ्या है तो निश्चल आनन्द को प्रकट करती है। बहुत कहने से क्या! सदोष पतितात्मा पुरुष भी आपके सामीप्य एवं प्रसाद से अभिमत फल को प्राप्त करते ही हैं।

मिथ्यावादं मलमपनुदन्सप्तभंगी-तरंगै-
र्वाग्भोधिर्भुवनमखिलं देव! पर्येति यस्ते।
तस्यावृत्तिं सपदि विबुधाश्चेतसैवाचलेन,
व्यातन्वन्तः सुचिरममृतासेवया तृप्नुवन्ति॥18॥

अन्वयार्थ : देव! - हे स्वामिन्! सप्तभंगीतरंगैः - स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति नास्ति, स्यादवक्तव्य, स्यादस्तिअवक्तव्य, स्यान्नास्तिअव्यक्तव्य, स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य - इन सप्त भंग रूप लहरों के द्वारा, मिथ्यावादं-मलं - सर्वथा एकान्त एकाग्र हठरूप मिथ्यात्वमल को अथवा शरीरादि परवस्तु में आत्मबुद्धि रूप विपरीताभिनिवेश के सम्बन्ध से होने वाले अतत्त्वश्रद्धानरूप मिथ्यामल को, अपनुदन् - दूर करने वाला, ते - आपका, यः - जो, वागम्भोधिः - वचनरूपी समुद्र है सो, अखिलं भुवनं - समस्त संसार को, पर्येति - घेरे हुए है/समस्त संसार में व्याप्त है। चेतसा एवं अचलेन - मनरूपी पर्वत मन्दार गिरि के द्वारा, तस्य - उस वचन रूपी समुद्र का, आवृत्तिम् - मन्थन, व्यातन्वन्तः - करने वाले, विबुधाः - देवगण, सपदि - शीघ्र ही, अमृतसेवया - अमृत के सेवन से, सुचिरं - चिरकाल तक, तृप्नुवन्ति - संतुष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ : हे नाथ! सप्तभंगरूप तरंगों से अथवा अनेकान्त के माहात्म्य से शरीरादिक बाह्य पदार्थों में आत्मतत्त्व बुद्धिरूपी जीव के विपरीताभिनिवेश को दूर करने वाले आपके वचन-समुद्र का जो भव्य प्राणी निरंतर अभ्यास, मनन एवं परिशीलन करता है अथवा आगमोक्त विधि से अभ्यास कर चित्त की निश्चलता रूप परम समाधि को प्राप्त करता है, वह शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त करता है और अनन्त काल तक वहाँ सुख में मग्न रहता है। यह सब आपके वचन समुद्र का ही माहात्म्य है।

आहार्येभ्यः स्पृह्यति परं यः स्वभावादहृद्यः,
शस्त्र-ग्राही भवति सततं वैरिणां यश्च शक्यः।
सर्वाङ्गेषु त्वमसि सुभगस्त्वं न शक्यः परेषां,
तत्किं भूषा-वसन-कुसुमैः किं च शस्त्रैरुदस्त्रैः॥19॥

अन्वयार्थ : हे भगवन्! यः - जो, स्वाभावात् - स्वभाव से, अहृद्यः स्यात् - अमनोज्ञ कुरूप होता है, स एव - वह ही, आहार्येभ्यः - वस्त्राभूषणादि के द्वारा शरीर को अलंकृत करने की, स्पृह्यति - इच्छा करता है, च - और, यः - जो, वैरिणा - शत्रु के द्वारा, शक्यः - जीतने योग्य होता है, वही शस्त्रग्राही भवति -

शस्त्रों को ग्रहण करने वाला होता है; उसे ही त्रिशूल-गदा-भाला-बरछी-तलवार आदि अस्त्रों की आवश्यकता होती है, किन्तु हे भगवन्! त्वम् - आप, सर्वाङ्गेषु सुभगः असि - सर्वाङ्ग रूप से सुन्दर हो, और, त्वं परेषां न शक्यः - तुम्हें शत्रु भी नहीं जीत सकते, तत् - इस कारण, तव - आपको, भूषावसनकुसुमैः - आभूषण, वस्त्र और फूलों से/विविध आभूषणों, सुन्दर वस्त्रों और मनोज्ञ सुगन्धित पुष्पों से, च - और, उदस्त्रैः शस्त्रैः - पैने/तीक्ष्ण धारवाले नुकीले हथियारों से, किं - क्या प्रयोजन है? अर्थात् कुछ नहीं।

भावार्थ : आचार्य वादिराज ने इस श्लोक में सच्चे देव का यथार्थ स्वरूप दिखलाते हुए जिनेन्द्र देव की अन्य हरि-हरादिक देवों से सर्वोत्कृष्टता प्रकट की है। उन्होंने उन्हें ही निर्दोष और वास्तविक देव बताया है, जो स्वभाव से अमनोज्ञ/कुरूप होता है, वह ही वस्त्राभूषणादि के द्वारा शरीर को अलंकृत करने की इच्छा करता है। और जो शत्रु के द्वारा जीतने योग्य होता है, वह शस्त्रों को ग्रहण करने वाला होता है, उसे ही त्रिशूल, गदा, भाला, बरछी, तलवार आदि शस्त्रों की आवश्यकता होती है; किन्तु हे भगवन्! आप सर्वाङ्ग रूप से सुन्दर हो और तुम्हें शत्रु भी नहीं जीत सकते। इस कारण आपको आभूषण, वस्त्र और फूलों से और पैने/तीक्ष्ण धार वाले नुकीले हथियारों से क्या प्रयोजन? अर्थात् कुछ भी नहीं।

इन्द्रः सेवां तव सुकुरुतां किं तथा श्लाघनं ते,
तस्यैवेयं भव-लय-करी श्लाघ्यतामातनोति।
त्वं निस्तारी जननजलधेः सिद्धिकान्ता-पतिस्त्वं,
त्वं लोकानां प्रभुरिति तव श्लाघ्यते स्तोत्रमित्थम्॥20॥

अन्वयार्थ : हे जिनेन्द्र! इन्द्रः - इन्द्र देवराज, तव - तुम्हारी/आपकी, सेवाम् - पूजा-स्तुति-वंदना आदि सेवा को, सुकुरुताम् - अच्छी तरह से करे परन्तु, तथा - - उसके द्वारा, ते - आपकी, किं श्लाघनं - क्या प्रशंसा है? किन्तु, भवलयकरी - संसार-परिभ्रमण का नाश करने वाली, इयम् - यह सेवा तो, तस्य एव - उस इन्द्र की ही, श्लाघ्यताम् प्रशंसा को आतनोति विस्तृत करती है/बढ़ाती है। किन्तु, त्वं -

आप, जननजलधेः – संसार-समुद्र से, निस्तारी – तरने और तारने वाले हैं तथा, त्वं – आप, सिद्धिकान्ता पतिः – मुक्ति रूपी स्त्री के स्वामी हैं और, त्वं – आप, लोकानां प्रभुः – संसार के समस्त प्राणियों के अधिपति हैं, इत्थम् – इस तरह से, तव – आपका यह, स्तोत्रम् – स्तोत्र/स्तवन, श्लाघ्यते – प्रशंसित किया जा सकता है।

भावार्थ : हे नाथ! इन्द्र आपकी सेवा, वंदना, पूजा, स्तुति आदि करता है, केवल इसी से आपकी कोई महत्ता और प्रशंसा नहीं हो सकती है; क्योंकि इन्द्र तो आपकी समीचीन भक्ति एवं स्तुति-पूजादि से महान् पुण्य का संचय करता है और वह भक्ति उसके लिए संसार का नाश करने वाली होती है। इसी से वह एक भवावतारी हो जाता है अर्थात् मनुष्य का एक भव धारण करके ही मोक्ष चला जाता है; परन्तु आप संसार-समुद्र से स्वयं तरने और तारने वाले हैं और मुक्तिरूप लक्ष्मी के अधिपति हैं तथा संसार के समस्त जीवों के अकारण बन्धु हैं, उन्हें संसार के दुःखों से छुड़ाने वाले हैं और हेयोपादेय रूप तत्त्वों का परिज्ञान कराते हैं; इसलिये आप उनके प्रभु हैं। आपने जिस उच्च आदर्श को प्राप्त किया है, वही संसारी जीवों के द्वारा प्राप्त करने योग्य हैं। इन्हीं सब कारणों से आपकी महत्ता एवं प्रभुता संसार में प्रकट होती है।

वृत्तिर्वाचामपर-सदृशी न त्वमन्येन तुल्यः,
स्तुत्युद्गाराः कथमिव ततस्त्वय्यमी नः क्रमन्ते।
मैवं भूवंस्तदपि भगवन्भक्ति पीयूष-पुष्टा-
स्ते भव्यानामभिमत-फलाः पारिजाता भवन्ति॥21॥

अन्वयार्थ : भगवन् – हे स्वामिन्! वाचा वृत्तिः – हमारे वचनों की प्रवृत्ति, अपरसदृशी – दूसरे अल्पज्ञ मनुष्यों के समान है। जैसे अन्य अल्पज्ञ मनुष्यों की वाणी होती है, वैसी ही हमारी भी है, परन्तु, त्वं – आप, अन्येन न तुल्यः – दूसरे पुरुषों के समान नहीं हो, इसीलिये आपकी तुलना अन्य संसारी अल्पज्ञ प्राणियों के साथ नहीं की जा सकती, क्योंकि आप अनुपम हैं। ततः – इसलिये, नः – हमारे, अभी – ये, स्तुत्युद्गाराः – स्तुति रूपी उद्गार, त्वयि – आप तक, कथमिव – किस तरह, क्रमन्ते – पहुँच सकते हैं/प्राप्त हो सकते हैं अथवा, एवं मा अभूवन् – ऐसे मत हो-

अर्थात् हमारे वचन आप तक न भी पहुँचें, तदपि – तो भी, भक्तिपीयूषपुष्टाः – भक्तिरूपी अमृत से परिपुष्ट हुए, ते – वे स्तुति रूप उद्गार, भव्यानाम् – भव्य जीवों के लिए अभिमत-फलः – इच्छित फल के देने वाले, पारिजाताः – कल्पवृक्ष, भवन्ति – होते हैं।

भावार्थ : हे नाथ! हमारे वचनों की प्रवृत्ति अन्य अल्पज्ञ जीवों के समान ही है; परन्तु आप राग-द्वेषादि शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर चुके हैं। अतः आपकी तुलना अन्य अल्पज्ञ संसारी जीवों से नहीं की जा सकती है; क्योंकि आप सच्चिदानन्द, परम ब्रह्म परमात्मा हैं। यद्यपि हमारे स्तुति रूपी उद्गार आपके समीप तक पहुँचते हैं तो भी आपकी समीचीन भक्तिरूप अमृत से पुष्ट हुए ये स्तुति रूप उद्गार भव्य जीवों के लिए कल्पवृक्ष के समान इच्छित फल देने वाले होते हैं।

कोपावेशो न तव न तव क्वापि देव! प्रसादो,
व्याप्तं चेतस्तव हि परमोपेक्षयैवानपेक्षम्।
आज्ञावश्यं तदपि भुवनं सन्निधिर्वैर-हारी,
क्वैवं भूतं भुवन-तिलकं प्राभवं त्वत्परेषु॥22॥

अन्वयार्थ : हे देव – हे नाथ! तव – आपका, क्वापि – किसी पर भी, कोपावेशः – क्रोध भाव, न अस्ति – नहीं है और न, तव – न आपकी, क्वापि – किसी पर प्रसन्नता है, हि – निश्चय से, अनपेक्षम् – स्वार्थ रहित, तव – आपका चेतः – मन, परमोपेक्षया एव – अत्यन्त उदासीनता से, व्याप्तम् – व्याप्त है, तदपि – फिर भी, भुवनं – संसार, आज्ञावश्यं – आपकी आज्ञा के अधीन है और आपकी सन्निधिः – समीपता/निकटता, वैरहारी – परस्पर के वैर-विरोध को हरने वाली है। और इस तरह, भुवनतिलक! – तीनों लोकों में श्रेष्ठ हे देव! स्वयम्भूतं – ऐसा, प्रभावं – प्रभाव, त्वत् – आपसे, परेषु – भिन्न दूसरे हरि-हरादिक देवों में, क्व भवेत्? – कहाँ हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

भावार्थ : हे नाथ! आपको न किसी से राग है और न द्वेष, आप न किसी पर प्रसन्न ही होते हैं और न किसी को अपने क्रोध का भाजन ही बनाते हैं, क्योंकि आप परम

वीतरागी हैं, राग-द्वेषादि के अभावरूप परम उपेक्षाभाव को अंगीकार किये हुए हैं; परन्तु फिर भी आपकी आज्ञा त्रैलोक्यवर्ती जीवों के द्वारा मान्य है तथा आपकी समीपता, वैर-विरोध का नाश करने वाली है। साथ ही, आपकी प्रशांत मुद्रा मुमुक्षु जीवों के लिए साक्षात् मोक्षमार्ग को प्रकट करती है, उसके ध्यान एवं चिंतन से भव्यात्मा आत्मा के वास्तविक स्वरूप का परिज्ञान करते हैं और उसी तरह चैतन्य प्रतिमा बनने का अभ्यास करते हैं, अतएव जैसा प्रभाव आपका है, वैसा अन्य हरि-हरादिक देवों का कहाँ है, हो सकता है? क्योंकि वे रागी-द्वेषी हैं। अपने भक्तों पर प्रसन्न होकर अनुग्रह करते हैं और निन्दकों पर रुष्ट होते हैं/उन्हें शाप देते हैं।

परन्तु हे देव! ये सब बातें आपमें नहीं हैं। पूजक और निन्दकों पर आपका समान भाव रहता है; क्योंकि आप जिन है, इन सब विकारों को जीत चुके हैं। अतः आप जैसा प्रभाव अन्य किसी भी देवी देवता का नहीं हो सकता है।

देव! स्तोतुं त्रिदिव गणिका-मण्डली-गीत-कीर्तिः,
तोतूर्ति त्वां सकल-विषय-ज्ञान-मूर्ति जनो यः।
तस्य क्षेमं न पदमटतो जातु जाहूर्ति पन्था-
स्तत्त्वग्रन्थ-स्मरण-विषये नैष मोमूर्ति मर्त्यः॥23॥

अन्वयार्थ : देव! - हे देव! यः जनः - जो मनुष्य, त्रिदिवगणिका - देवांगनाओं के, मण्डली - समूह द्वारा, गीत - गाई गई है, कीर्तिम् - कीर्ति जिसकी ऐसे तथा, सकल - सकल पदार्थों, विषय - विषय करने वाले, ज्ञानमूर्तिम् - ज्ञानस्वरूप, त्वां - आपकी, स्तोतुम् - स्तवन करने के लिए, तोतूर्ति - शीघ्रता करता है, क्षेमम् पदम् - कल्याणकारी स्थान अर्थात् मोक्ष को, अटतः - जाते हुए, तस्य - उस मनुष्य का, पन्थाः - मार्ग, जातु - कभी भी, न जोहूर्ति - टेड़ा नहीं होता और, न एषः मर्त्यः - न यह मनुष्य, तत्त्वग्रन्थ - तत्त्वग्रन्थों के, स्मरणविषये - स्मरण के विषय में, मोमूर्ति - मूर्च्छित होता है/मोह को प्राप्त होता है।

भावार्थ : हे भगवन्! जो भद्र मानव आपकी समीचीन भक्ति करता है और आपके पवित्र अनन्त ज्ञानादि गुणों की स्तुति करता है, उनका चिन्तन और मनन करता है; वह

शीघ्र ही कर्मबन्धन को काटकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है और कर्मबन्ध के विनाश से पूर्ण ज्ञानी होता हुआ फिर कभी भी अज्ञान को प्राप्त नहीं होता है।

चित्ते कुर्वन्निरवधि-सुख-ज्ञान-दृग्वीर्य-रूपं,
देव! त्वां यः समय-नियमादाऽऽदरेण स्तवीति।
श्रेयोमार्गं स खलु सुकृती तावता पूर्यित्वा,
कल्याणानां भवति विषयः पञ्चधा पञ्चितानाम्॥24॥

अन्वयार्थ : देव! - हे जिनेन्द्र! निरवधिसुखज्ञानदृग्वीर्यरूपम् - अनन्त सुख, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तवीर्यस्वरूप, त्वाम् - आपको, चित्ते कुर्वन् - हृदय में धारण करता हुआ, यः - जो मनुष्य, समयनियमात् - समय के नियम से अर्थात् त्रिकाल में, आदरेण - विनयपूर्वक, स्तवीति - आपकी स्तुति करता है, खलु - निश्चय से, सः - वह मनुष्य, तावता - उतने ही से/स्तवन करने मात्र से ही श्रेयोमार्ग - मोक्षमार्ग को, पूर्यित्वा - पूर्ण करके, पञ्चधा पञ्चितानाम् - पंच प्रकार से विस्तृत, कल्याणानां - कल्याणों का/गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण रूप पंच कल्याणकों का, विषयः भवति - पात्र होता है।

भावार्थ : हे जिनेन्द्र! अनन्तसुख, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तवीर्य - इन अनन्त चतुष्टय स्वरूप आपको हृदय में धारण करता हुआ जो मनुष्य समय के नियम से अर्थात् त्रिकाल में विनयपूर्वक आपकी स्तुति करता है। निश्चय से वह भव्य जीव उतने ही से/स्तवन करने मात्र से ही गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण रूप पंच कल्याणकों का पात्र हुआ मोक्षमार्ग का अधिष्ठाता होता है।

भक्तिप्रह्वमहेन्द्र पूजितपद, त्वत्कीर्तने न क्षमाः,
सूक्ष्मज्ञान-दृशोऽपि संयमभृतः, के हन्त मन्दा वयम्।
अस्माभिः स्तवनच्छलेन तु परस्त्वय्या दरस्तन्यते
स्वात्माधीनसुखैषिणां स खलु नः कल्याणकल्पद्रुमः॥25॥

अन्वयार्थ : भक्तिप्रह्व - भक्ति से नम्र हुए, महेन्द्र - देवेन्द्र के द्वारा, पूजितपद! - पूजित हैं चरण जिनके ऐसे हे जिनेन्द्र! जब त्वत्कीर्तने - आपकी प्रशंसा

करने में, **सूक्ष्मज्ञानदृशः** - सूक्ष्म ज्ञान और दर्शन को धारण करने वाले, **संयमभृतः** **अपि** - तपस्वी भी अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानादि के धारण संयमी योगीश्वर भी, **न क्षमाः** - समर्थ नहीं हैं तब, **हन्त** - खेद है कि **वयं मन्दा के** - हम जैसे मन्द बुद्धि पुरुष आपकी स्तुति करने में कैसे समर्थ हो सकते हैं? तथापि, **स्तवनच्छलेन** - स्तवन के छल से, **अस्माभिः** - हमारे द्वारा, **तु** - तो सिर्फ, **त्वयि** - आपके विषय में, **परः** - उत्कृष्ट, **आदरः** - आदर प्रेम ही, **तन्यते** - विस्तृत किया जाता है और, **खलु** - निश्चय से, **सः** - वह आदर ही, **स्वात्माधीनसुखैषिणां** - आत्मसुख के इच्छुक, **नः** हम लोगों के लिए, **कल्याणकल्पद्रुमः** - कल्याण करने वाला कल्पवृक्ष होवे।

भावार्थ : हे नाथ! आप जैसे परम योगीन्द्र की जब द्वादशांग का पाठी इन्द्र भक्तिपूर्वक स्तुति करता है और चार ज्ञान के धारण गणधरादिक मुनिजन भी आपको अपनी स्तुति का विषय बनाते हैं तथा अनेक ऋद्धियों के धारक क्षीण काय मुनिपुंगव जब आपकी स्तुति करते हैं तो भी वह पूर्णतः आपकी स्तुति करने में समर्थ नहीं हो पाते। ऐसी अवस्था में आचार्य वादिराज अपनी लघुता प्रकट करते हुए कहते हैं कि तब मुझ जैसा मन्द मति पुरुष आप जैसे जग-वन्द्य परमात्मा की स्तुति करने में कैसे समर्थ हो सकता है? अस्तु, आपके गुणों में जो अनुराग प्रकट किया है - भक्ति से इस स्तवन रूप पुष्पमाला को गूँथा है; सो उक्त गुणानुराग ही आत्महितैषी मोक्ष के इच्छुक हम जैसे लोगों का कल्याण करने वाले हो अथवा मेरी आत्मोन्नति में सहायक हो।

वादिराजमनु शाब्दिकलोको, वादिराजमनुतार्किक-सिंहः।

वादिराजमनु-काव्यकृतस्ते, वादिराजमनुभव्य - सहायः॥26॥

भावार्थ : सारे वैयाकरण वादिराज मुनिराज से पीछे हैं; सारे न्यायाचार्य वादिराज मुनिराज से पीछे हैं; सारे काव्यकार वादिराज मुनिराज ही से पीछे हैं; केवल वादिराज मुनिराज भव्य जीवों के रक्षक हैं।

॥ इति श्रीएकीभावस्तोत्रम् ॥

22. श्री विषापहारस्तोत्रम्

कवि श्री धनंजय प्रणीत

मंगलाचरण

उपजाति छन्द

स्वात्म-स्थितः सर्व-गतः समस्त-

व्यापार-वेदी विनिवृत्त-संगः।

प्रवृद्ध-कालोऽप्यजरो वरेण्यः,

पायादपायात्पुरुषः पुराणः॥१॥

अन्वयार्थ : स्वात्मस्थितः अपि – आत्मस्वरूप में स्थिर होकर भी, सर्वगतः – सर्वव्यापक, समस्तव्यापारवेदी अपि – सब व्यापारों के जानकार होकर भी परिग्रह से रहित, प्रवृद्धकालः अपि – दीर्घ आयु वाले होकर भी, अजरः – बुढ़ापे से रहित तथा, वरेण्यः – श्रेष्ठ, पुराणः पुरुषः – प्राचीन पुरुष भगवान् वृषभनाथ, नः अपायात् – हम सबको विनाश से, पायात् – बचा लें – रक्षित करें।

भावार्थ : प्रस्तुत श्लोक में विरोधाभास अलंकार है। इस अलंकार में सुनते समय विरोध मालूम होता है, पर बाद में अर्थ का विचार करने से उसका परिहार/निराकरण भी हो जाता है।

देखिये, जो अपने स्वरूप में स्थित होगा, वह सर्वव्यापक कैसे होगा? यह विरोध है, पर उसका परिहार यह है कि पुराण पुरुष आत्मप्रदेशों की अपेक्षा अपने स्वरूप में ही स्थित हैं; पर उनका ज्ञान सब जगह के पदार्थों को जानता है। इसलिये ज्ञान की अपेक्षा सर्वगत हैं।

जो सम्पूर्ण व्यापारों का जानने वाला है, वह परिग्रह रहित कैसे हो सकता है? यह विरोध है। उसका परिहार यह है कि आप सर्व पदार्थों के स्वाभाविक अथवा वैभाविक परिवर्तनों को जानते हुए भी कर्मों के सम्बन्ध से रहित हैं। इसी तरह दीर्घायु से सहित होकर भी बुढ़ापे से रहित हैं – यह विरोध है। इसका परिहार इस तरह है कि महापुरुषों के शरीर

में वृद्धावस्था का विकार नहीं होता अथवा शुद्ध आत्मस्वरूप की अपेक्षा वे कभी भी जीर्ण नहीं होते। इस तरह श्लोक में विघ्न-बाधाओं से अपनी रक्षा करने के लिए पुराण पुरुष से प्रार्थना की गई है।

वृषभेश वन्दना संकल्प

परैरचिन्त्यं युग-भारमेकः,
स्तोतुं वहन्योगिभिरप्यशक्यः।
स्तुत्योऽद्य मेऽसौ वृषभो न भानोः,
किमप्रवेशे विशति प्रदीपः॥२॥

अन्वयार्थ : परैः - दूसरों के द्वारा, अचिन्त्यम् - चिन्तन करने के अयोग्य, युगभारम् - कर्म युग के भार को, एकः वहन् - अकेले ही धारण किये हुए तथा, योगिभिः अपि - मुनियों के द्वारा भी, स्तोतुम् अशक्यः - जिनकी स्तुति नहीं की जा सकती है ऐसे, असौ वृषभः - वे भगवान वृषभनाथ! अद्य - आज, मे स्तुत्यः - मेरे द्वारा स्तुति करने के योग्य हैं अर्थात् आज मैं उनकी स्तुति कर रहा हूँ। सो ठीक है, भानोः अप्रवेशे - सूर्य का प्रवेश नहीं होने पर, किम् प्रदीपकः - क्या दीपक, न विशति - प्रवेश नहीं करता? अर्थात् करता है।

भावार्थ : भगवन्! यहाँ जब भोगभूमि के बाद कर्मभूमि का समय प्रारम्भ हुआ था, उस समय की सब व्यवस्था आप अकेले ही कर गये थे। इस तरह आपकी विलक्षण शक्ति को देखकर योगी भी कह उठे थे कि मैं आपकी स्तुति नहीं कर सकता; पर मैं आज आपकी स्तुति कर रहा हूँ, इसका कारण मेरा अभिमान नहीं है।

हे भगवन्! मैं तो यह सोचता हूँ कि जिस गुफा में सूर्य का प्रवेश नहीं हो पाता, उस गुफा में भी दीपक प्रवेश कर लेता है। यद्यपि यह ठीक है कि दीपक सूर्य की भाँति गुफा के सब पदार्थों को प्रकाशित नहीं कर सकता, लेकिन प्रकाशित तो करता ही है। उसी तरह मैं भी योगियों की तरह आपकी पूर्ण स्तुति नहीं कर सकूँगा, फिर भी मुझमें जितनी सामर्थ्य है, उससे बाज क्यों आऊँ।

लघुता दर्शन

तत्याज शक्रः शकनाभिमानं,
नाहं त्यजामि स्तवनानुबन्धम्।
स्वल्पेन बोधेन ततोऽधिकार्थं,
वातायनेनेव निरूपयामि॥3॥

अन्वयार्थ : शक्रः - इन्द्र ने, शकनाभिमानम् - स्तुति कर सकने की शक्ति का अभिमान, तत्याज - छोड़ दिया था किन्तु अहम् मैं, स्तवनानुबन्धम् - स्तुति के उद्योग को, न त्यजामि - नहीं छोड़ रहा हूँ। मैं, वातायनेन इव - झरोखे की तरह, स्वल्पेन बोधेन - थोड़े-से ज्ञान के द्वारा, ततः - झरोखे और ज्ञान से, अधिकार्थम् - अधिक अर्थ को, निरूपयामि - निरूपित कर रहा हूँ।

भावार्थ : जिस तरह छोटे-से झरोखे में झाँककर उससे कई गुणी वस्तुओं का वर्णन किया जाता है, उसी तरह मैं भी अपने अल्प ज्ञान से जानकर आपके गुणों का वर्णन कर रहा हूँ। मुझे अपनी इस अनोखी सूझ पर हर्ष और विश्वास दोनों हैं। इसलिये मैं इन्द्र की तरह अपनी शक्ति को नहीं छिपाता।

मेरी असामर्थ्य की कहानी
त्वं विश्वदृश्वा सकलैरदृश्यो,
विद्वानशेषं निखलैरवेद्यः।
वक्तुं कियान्कीदृशमित्यशक्यः,
स्तुतिस्ततोऽशक्तिकथा तवास्तु॥4॥

अन्वयार्थ : त्वम् - आप, विश्वदृश्वा अपि - सबको देखने वाले हैं किन्तु, सकलैः अदृश्यः - सबके द्वारा नहीं देखे जाते, आप अशेषम् विद्वान् - सबको जानते हैं पर, निखलैः अवेद्यः - सबके द्वारा नहीं जाने जाते। आप, कियान् कीदृशः - कितने और कैसे हैं, इति - यह भी, वक्तुम् अशक्यः - नहीं कहा जा सकता, ततः - उसमें, तव स्तुतिः - आपकी स्तुति, अशक्तिकथा - मेरी असामर्थ्य की कहानी ही, अस्तु - हो।

भावार्थ : आप सबको देखते हैं, पर आपको देखने की किसी में शक्ति नहीं है। आप सबको जानते हैं, पर आपको जानने की किसी में शक्ति नहीं है। आप कैसे और कितने परिमाण वाले हैं - यह भी कहने की किसी में शक्ति नहीं है। इस तरह आपकी स्तुति मानो अपनी अशक्ति की चर्चा करना ही है। इससे पहले के श्लोक में कवि ने कहा था कि आपकी स्तुति से इन्द्र ने अभिमान छोड़ दिया था; पर मैं नहीं छोड़ूँगा अर्थात् मुझमें स्तुति करने की शक्ति है, पर जब वे स्तुति करना प्रारम्भ करते हैं और प्रारम्भ से ही इन्हें कहना पड़ता है कि सबमें आपको देखने की, जानने की अथवा कहने की शक्ति नहीं है। जिसका तात्पर्य अर्थ यह होता है कि उसमें भी उसकी शक्ति नहीं है, तब उन्हें भी अन्त में स्वीकार करना पड़ता है कि इन्द्र ने जो शक्ति का अभिमान छोड़ा था, वह ठीक ही किया था और मेरे द्वारा की गई यह स्तुति भी मेरी अशक्ति की कथा ही हो।

बाल वैद्य जिनवर!

व्यापीडितं बालमिवात्म-दोषै-

रुल्लाघतां लोकमवापिपस्त्वम्।

हिताहितान्वेषण - मान्द्यभाजः,

सर्वस्य जन्तोरसि बाल-वैद्यः॥५॥

अन्वयार्थ : त्वम् - आपने, बालम् इव - बालक की तरह, आत्मदोषैः - अपने द्वारा किये गये अपराधों से, व्यापीडितम् - अत्यन्त पीड़ित, लोकम् - संसारी मनुष्यों की, उल्लाघताम् - निरोगता, अवापियः - प्राप्त कराई है। निश्चय से आप, हिताहितान्वेषणमान्द्यभाजः - भले-बुरे के विचार करने में मूर्खता को प्राप्त हुए, सर्वस्य जन्तोः - सब प्राणियों के, बालवैद्यः - बाल वैद्य हैं।

भावार्थ : जिस तरह बालकों की चिकित्सा करने वाला वैद्य, अपनी भूल से पैदा किये हुए वात, पित्त, कफ आदि दोषों से पीड़ित बालकों के अच्छे-बुरे का ज्ञान करा उन्हें निरोग बना देता है और अपने 'बाल वैद्य' इस नाम को सार्थक बना लेता है। उसी तरह आप भी हित और अहित के निर्णय करने में असमर्थ बाल अर्थात् अज्ञानी जीवों को हित-अहित का बोध कराकर संसार के दुःखों से छुड़ाकर स्वस्थ बना देते हैं। इस तरह आपका

भी 'बाल वैद्य' अर्थात् 'अज्ञानियों के वैद्य' यह नाम सार्थक सिद्ध होता है।

अभीप्सित फलप्रदाता

दाता न हर्ता दिवसं विवस्वा-
नद्यश्व इत्यच्युत दर्शिताशः।
सव्याजमेवं गमयत्यशक्तः,
क्षणेन दत्सेऽभिमतं नताय॥6॥

अन्वयार्थ : अच्युत - हे उदार आदि गुणों से सहित जिनेन्द्र देव! विवश्वान् - सूर्य, न दाता न हर्ता - न देता है, न अपहरण करता है सिर्फ, अद्यश्वः - आजकल, इति - इस तरह, दर्शिताशः - आशा (दूसरे पक्ष में दिशा को) दिखाता हुआ, असक्तः सन् - असमर्थ हो, एवम् - ऐसे ही-बिना लिये दिये ही, सव्याजम् - कपट सहित, दिवसम् - दिन को, गमयति - बिता देता है, किन्तु आप, नताय - नम्र मनुष्य के लिए, क्षणेन - क्षण भर में, अभिमतम् - इच्छित वस्तु, दत्से - दे देते हैं।

भावार्थ : लोग सूर्योदय होते ही हाथ जोड़ शिर झुकाकर 'नमो नारायण' कहते हुए सूर्य को नमस्कार करते हैं और उससे इच्छित वरदान माँगते हैं, पर वह 'आज दूँगा - कल दूँगा' - इस तरह आशा दिखाता हुआ दिन बिता देता है, किसी को कुछ लेता-देता नहीं है - असमर्थ जो ठहरा; पर आप नम्र मनुष्य को उनकी इच्छित वस्तु क्षणभर में दे देते हैं। इस तरह आप सूर्य से बहुत बढ़कर हैं।

स्तुति-निंदा से स्वयमेव सुख-दुःख प्राप्ति

उपैति भक्त्या सुमुखः सुखानि,
त्वयि स्वभावाद् विमुखश्च दुःखम्।
सदावदात-द्युतिरेक रूप-
स्तयोस्त्वमादर्श इवावभासि॥7॥

अन्वयार्थ : त्वयि सुमुखः - आपके अनुकूल चलने वाला पुरुष, भक्त्या सुखानि - भक्ति से सुखों को, उपैति - प्राप्त होता है, च - और, विमुख - प्रतिकूल चलने वाला पुरुष, स्वभावात् - स्वभाव से ही, दुःखम् उपैति - दुःख पाता है।

किन्तु, त्वम् तयोः – आप उन दोनों के आगे, आदर्शः इव – दर्पण की तरह सदा-हमेशा, अवदाद्युतिः – उज्ज्वल कान्तियुक्त तथा एकरूप-एक सदृश, अवभासि – शोभायमान रहते हैं।

भावार्थ : जिस प्रकार दर्पण के सामने मुँह करने वाला पुरुष दर्पण में अपना सुन्दर चेहरा देखकर सुखी होता है और पीठ देकर खड़ा हुआ पुरुष आपका चेहरा न देख सकने से दुःखी होता है, उनके सुख-दुःख में दर्पण कारण नहीं है। दर्पण तो उन दोनों के लिए हमेशा एकरूप ही है, पर वे दो मनुष्य अपनी अनुकूल और प्रतिकूल क्रिया से अपने आप विषय में सुमुख होते हैं अर्थात् जो आपको पूज्य दृष्टि से देखता है, आपकी भक्ति करता है, वह शुभ कर्मों का बन्ध होने अथवा अशुभ कर्मों की निर्जरा होने से स्वयं सुखी होता है और जो आपके विषय में विमुख रहता है अर्थात् आपको पूज्य नहीं समझता और न आपकी भक्ति करता है, वह अशुभ कर्मों का बन्ध होने से दुखी होता है। उनके सुख-दुःख में आप कारण नहीं हैं। आप तो हमेशा दोनों के लिए राग-द्वेष रहित और चैतन्य चमत्कारमय एकरूप ही हैं।

सर्वव्यापी गुणधारक

अगाधताब्धेः स यतः पयोधि-

मेरोश्च तुंगा प्रकृतिः स यत्र।

द्यावापृथिव्योः पृथुता तथैव,

व्याप त्वदीया भुवनान्तराणि॥४॥

अन्वयार्थ : अब्धेः अगाधता तत्र अस्ति – समुद्र की गहराई वहाँ है, यतः सः पयोधिः – जहाँ वह समुद्र है, मेरोः तुङ्गा प्रकृति – सुमेरु पर्वत की, उन्नत प्रकृति – ऊँचाई, यत्र सः – वहाँ है जहाँ वह सुमेरु पर्वत है, च द्यावापृथिव्योः – और आकाश पृथ्वी की, पृथुता – विशालता भी, तथैव – उसी प्रकार है अर्थात् जहाँ आकाश और पृथ्वी है वहीं उनकी विशालता है, परंतु, त्वदीया अगाधता तुङ्गा प्रकृतिः – आपकी गहराई, उन्नत प्रकृति और, पृथुता च – हृदय की विशालता ने, भुवनान्तराणि – तीनों लोकों के मध्य भाग को, व्याप – व्याप्त कर लिया है।

भावार्थ : अगाधता शब्द के दो अर्थ हैं - समुद्र वगैरह में पानी की गहराई और मनुष्य हृदय में रहने वाले धैर्य की अधिकता। तुंगा प्रकृति शब्द भी द्वयर्थक है। पहाड़ वगैरह की ऊँचाई और मन में दीनता का न होना। इसी तरह पृथुता, विशालता के भी दो अर्थ हैं। जमीन-आकाश वगैरह के प्रदेशों का फैलाव और मन में सबको - अपनाने के भाव, सबके प्रति प्रेममयी भावना।

भगवन्! समुद्र की गम्भीरता समुद्र के ही पास है, मेरु पर्वत की ऊँचाई मेरु के पास है और आकाश-पृथ्वी की विस्तारता भी उन्हीं के पास है, परंतु आपकी (अगाधता-धैर्यवृत्ति, ऊँचाई-अदैन्यवृत्ति और पृथुता-उदारवृत्ति) सारे संसार में फैली हुई है। इसलिये जो कहा करते हैं कि आपकी गम्भीरता समुद्र के समान है, उन्नत प्रकृति मेरु की तरह है और विशालता आकाश-पृथ्वी के सदृश है, वे शायद उतना ही जानते हैं। आप तो अनन्त गुणों के भण्डार हैं। आपकी तुलना किसी से नहीं की जा सकती।

विपरीत प्रवृत्ति भी उचित

तवानवस्था परमार्थ-तत्त्वं,
त्वया न गीतः पुनरागमश्च।
दृष्टं विहाय त्वमदृष्टमैषी-
विरुद्धवृत्तोऽपि समञ्जसस्त्वम्॥१९॥

अन्वयार्थ : अनवस्था तव - परिवर्तन शीलता आपका, परमार्थतत्त्वम् च - वास्तविक सिद्धान्त है और, त्वया - आपके द्वारा, पुनरागमः न गीता - मोक्ष से वापस आने का उपदेश दिया नहीं गया है तथा, त्वम् - आप, दृष्टम् - प्रत्यक्ष इस, लोक - सम्बन्धी सुख, विहाय अदृष्टम् - छोड़कर परलोक संबंधी सुख को, ऐषीः - चाहते हैं, इस तरह, त्वम् विरुद्धवृत्तः अपि - आप विपरीत प्रवृत्तियुक्त होने पर भी, समञ्जसः - उचितता से युक्त हैं।

भावार्थ : जब आपका सिद्धान्त है कि सब पदार्थ परिवर्तनशील हैं, सभी में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होता है, तब सिद्धों में भी परिवर्तन अवश्य होगा, किन्तु आप उनके पुनरागमन को, संसार को वापस आने को स्वीकार नहीं करते - यह विरुद्ध बात है। जो

मनुष्य प्रत्यक्ष सामने रखी हुई वस्तु को छोड़कर अप्रत्यक्ष-परभव में प्राप्त होने वाली वस्तु के पीछे पड़ता है, लोक में वह अच्छा नहीं कहलाता; परन्तु आप वर्तमान के सुखों को छोड़कर भविष्य के सुख प्राप्त करने की इच्छा से उद्योग करते हैं - यह भी विरुद्ध बात है।

परन्तु जब इन दोनों बातों का तत्त्व-दृष्टि से विचार करते हैं, तब वे दोनों ठीक मालूम होने लगती हैं, जिससे आपकी प्रवृत्ति उचित ही रही आती है। यद्यपि पर्याय दृष्टि से सब पदार्थों में परिवर्तन होता है, सिद्धों में भी होता है; तथापि द्रव्यदृष्टि से सब पदार्थ अपरिवर्तन रूप भी हैं। संसार में आने का कारण कर्मबन्ध भी है। वह कर्मबन्ध सिद्ध अवस्था में जड़-मूल से नष्ट हो जाता है। इसलिये सिद्ध जीव फिर कभी लौटकर संसार में वापस नहीं आते, यह आपका सिद्धान्त उचित ही है।

इसी तरह आपके वर्तमान के क्षणभंगुर इन्द्रियजनित सुखों से मोह छोड़कर सच्चे आत्म-सुख को प्राप्त करने का उपदेश दिया है। वह सच्चा सुख तब तक प्राप्त नहीं हो सकता, जब तक कि यह प्राणी इन्द्रिय जनित सुख में लगा रहता है। इसलिये प्रत्यक्ष के अल्प सुख को छोड़कर वीतरागता प्राप्त करने से परभव में सच्चा सुख प्राप्त होता है, उसे कौन प्राप्त न करना चाहेगा ?

इस श्लोक में विरोधाभास अलंकार है।

मदन-विजेता आदिनाथ

स्मरः सुदग्धो भवतैव तस्मि-

नुद्धुलितात्मा यदि नाम शम्भुः।

अशेत वृन्दोपहतोऽपि विष्णुः,

किं गृह्यते येन भवानजागः॥10॥

अन्वयार्थ : स्मरः - काम, भवता एव - आपके द्वारा ही, सुदग्धः - अच्छी तरह भस्म किया गया है, यदि नाम शम्भुः - यदि आप कहें कि महादेव ने भी तो भस्म किया था तो वह कहना ठीक नहीं, क्योंकि बाद में वह, तस्मिन् - उस काम के विषय में, उद्धुलितात्मा - कलंकित हो गया था और, विष्णुः अपि - विष्णु ने भी वृन्दोपहतः सन् - वृन्दा-लक्ष्मी नामक स्त्री से प्रेरित हो, अशेत - शयन किया था,

किम् गृह्यते – यह बात क्यों ग्रहण की गई? येन – जिस कारण से, भवान् अजाग – आप जाग्रत रहे। अर्थात् काम निद्रा में अचेत नहीं हुए।

भावार्थ : हे भगवन्! जगत् विजयी काम को आपने ही भस्म किया था। लोग जो कहा करते हैं कि महादेव ने भस्म किया था, वह ठीक नहीं; क्योंकि बाद में महादेव ने पार्वती की तपस्या से प्रसन्न हो उसके साथ विवाह कर लिया था। इसी तरह विष्णु ने भी वृन्दा-लक्ष्मी के वशीभूत हो तरह-तरह से चेष्टाएँ की थीं, पर आप हमेशा ही आत्मव्रत में लीन रहे तथा काम को इस तरह पछाड़ा कि वह फिर पनप नहीं सका।

स्वगुण प्रशंसनीय

स नीरजाः स्यादपरोऽघवान्वा,

तद्दोषकीर्त्यैव न ते गुणित्वम्।

स्वतोऽम्बुराशेर्महिमा न देव!

स्तोकापवादेन जलाशयस्य॥11॥

अन्वयार्थ : वा – अथवा, सः – वह ब्रह्मादि देवों का समूह, नीरजाः – पाप रहित, स्यात् – हो और, अपरः – दूसरा देव, अघवान् ‘स्यात्’ – पाप सहित हो, तद्दोषकीर्त्या एव – उनके दोषों के वर्णन करने मात्र से ही, ते – आपकी, गुणित्वम् न – गुण-सहितता नहीं है, देव – हे देव! अम्बुराशेः – समुद्र की, महिमा – महिमा स्वतः ‘स्यात्’ – स्वभाव से ही होती है, जलाशयस्य स्तोकापवादेन न – ‘यह छोटा है’ – इस तरह तालाब वगैरह की निन्दा से नहीं होती।

भावार्थ : हे भगवन्! दूसरे के दोष बताकर हम आपका गुणीपना सिद्ध नहीं करना चाहते; क्योंकि आप स्वभाव से ही गुणी हैं। सरोवर को छोटा कह देने मात्र से समुद्र की विशालता सिद्ध नहीं होती; किन्तु विशालता उसका स्वभाव है, इसलिये वह विशाल कहलाता है।

कर्त्ता-कर्म रहित जिनवर

कर्मस्थितं जन्तुरनेक-भूमिं

नयत्यमुं सा च परस्परस्य।

त्वं नेतृभावं हि तयोर्भवाब्धौ,
जिनेन्द्र नौ-नाविकयोरिवाख्यः॥12॥

अन्वयार्थ : जन्तुः कर्मस्थितिम् – जीव कर्मों की स्थिति को अनेक, भूमिम् नयति – अनेक जगह ले जाता है, च – और, सा – वह कर्मों की स्थिति, अमुम् – उस जीव को, अनेकभूमिम् – अनेक जगह ले जाती है इस तरह, जिनेन्द्र! – हे जिनेन्द्र देव! त्वम् – आपने, भवाब्धौ – संसार रूप समुद्र में, नौनाविकयोः इव – नाव और खेवटिया की तरह, तयोः – उन दोनों में, हि – निश्चय से, परस्परस्य – एक-दूसरे का, नेतृभावम् – नेतृत्व, आख्यः – कहा है।

भावार्थ : सिद्धान्त ग्रन्थों में कहा गया है कि यह जीव अपने भले-बुरे भावों से जिन कर्मों को बाँधता है, वे कर्म तब तक उसका साथ नहीं छोड़ते, जब तक फल देकर खिर नहीं जाते। इस बीच में जीव जन्म-मरण कर जहाँ-तहाँ पैदा होना, आयु आदि कर्मों की सहायता के बिना नहीं होता। इसलिए कहा गया है कि कर्म ही जीव को चारों गतियों में जहाँ-तहाँ ले जाते हैं। हे भगवन्! आपने इन दोनों में परस्पर का नेतृत्व उस तरह कहा है जिस तरह कि समुद्र में पड़े हुए जहाज और खेवटिया में हुआ करता है।

अज्ञानचर्या

सुखाय दुःखानि गुणाय दोषान्,
धर्माय पापानि समाचरन्ति।
तैलाय बालाः सिकतासमूहं,
निपीडयन्ति स्फुटमत्वदीयाः॥13॥

अन्वयार्थ : बालाः तैलाय – बालक तेल के लिए, सिकतासमूहम् – बालू के समूह को, निपीडयन्ति – पेलते हैं, स्फुटम् – ठीक – उसी प्रकार, अत्वदीया – आपके प्रतिकूल चलने वाले पुरुष, सुखाय – सुख के लिए, दुःखानि – दुःखों का, गुणाय – गुण के लिए, दोषान् – दोषों को और, धर्माय – धर्म के लिए, पापानि – पापों का, समाचरन्ति – समाचरित करते हैं।

भावार्थ : हे भगवन्! जो आपके शासन में नहीं चलते, उन्हें धार्मिक तत्त्वों का

सच्चा ज्ञान नहीं हो पाता; इसलिये वे अज्ञानियों की तरह उलटे आचरण करते हैं। वे किसी स्त्री, राज्य या स्वर्ग आदि को प्राप्त कर सुखी होने की इच्छा से तरह-तरह के कायक्लेश का दुःख उठाते हैं, पर सकाम तपस्या का कोई फल नहीं होता; इसलिये वे अन्त में भी दुःखी ही रहते हैं। 'हममें शील-शांति आदि गुणों का विकास हो' - ऐसी इच्छा रखते हुए भी रति-लम्पटी, क्रोधी आदि देवों की उपासना करते हैं; पर उन देवों की शीलघातक और क्रोधयुक्त क्रियाओं का उन पर बुरा असर पड़ता है, जिससे उनमें गुणों का विकास न होकर दोषों का ही विकास हो जाता है। इसी प्रकार यज्ञादि धर्म करने की इच्छा से पशु हिंसा आदि पाप करते हैं, जिससे उलटा पापबन्ध ही होता है। हे प्रभो! यह बिलकुल स्पष्ट है कि उनकी क्रियायें उन बालकों जैसी हैं, जो कि तेल पाने की इच्छा से बालू के पुंज को कोल्हू में पेलते हैं।

विषापहारी जिनवर नाम

विषापहारं मणिमौषधानि,
मन्त्रं समुद्दिश्य रसायनं च।
भ्राम्यन्त्यहो न त्वमिति स्मरन्ति,
पर्याय-नामानि तवैव तानि॥14॥

अन्वयार्थ : अहो - आश्चर्य है कि लोग, विषापहारम् - विष को दूर करने वाले, मणिम् औषधानि - मणि को औषधियों को, मन्त्रम् - मन्त्र को, च - और, रसायनम् समुद्दिश्य - रसायन को उद्देश्य कर, भ्राम्यन्ति - यहाँ वहाँ घूमते हैं किन्तु, त्वम् आप ही मणि हैं, औषधि हैं, मन्त्र हैं और रसायन हैं इति - ऐसा, स्मरन्ति - ख्याल नहीं करते। क्योंकि, तानि - वे मणि आदि, तव एव - आपके ही, पर्यायनामानि - पर्यायवाची शब्द हैं।

भावार्थ : मणि, मंत्र और औषधि आदिक सुख देने वाले और रोगादिकों को हरण करने वाले लगते हैं, परन्तु वे वास्तव में रोगादिक का नाश नहीं कर सकते हैं। जन्म, जरा और मरण रूप रोग के नाश करने के लिए आप ही परम समर्थ हैं। इसलिए वे मंत्रादिक आपके ही पर्यायवाची नाम जानने चाहिए। हे भगवन्! जो मनुष्य शुद्ध हृदय से आपका स्मरण करते हैं, उनके सम्पूर्ण रोगादि विकार अपने आप दूर हो जाते हैं।

प्रभु ध्यान से सर्व-अर्थ सिद्धि
चित्ते न किञ्चित्कृतवानसि त्वं,
देवः कृतश्चेतसि येन सर्वम्।
हस्ते कृतं तेन जगद्विचित्रं,
सुखेन जीवत्यपि चित्तबाह्यः॥15॥

अन्वयार्थ : त्वम् चित्ते - आप अपने हृदय में, किञ्चित् - कुछ भी न, कृतवान् असि - नहीं करते हैं - रखते किन्तु, येन - जिसके द्वारा देवः चेतसि - आप हृदय में, कृतः - धारण किये गये हैं, तेन सर्वम् जगत् - उसके द्वारा समस्त संसार, हस्ते कृतम् - हाथ में कर लिया गया है अर्थात् उसने सब कुछ पा लिया है। विचित्रम् - आश्चर्य की बात है। और आप, चित्तबाह्यः अपि - चेतन से रहित होते हुए भी, सुखेन जीवति - सुख से जीवित हैं। यह आश्चर्य है।

भावार्थ : यह बात प्रसिद्ध है कि यदि मोहन के शरीर पर पाँच हजार के आभूषण हैं तो वह मोहन जिस कुर्सी पर बैठेगा; उस कुर्सी पर भी पाँच हजार के आभूषण कहलाते हैं। यदि उसके शरीर पर कुछ भी नहीं है तो कुर्सी पर भी कुछ नहीं कहलाता; पर यहाँ विचित्र ही बात है। आपके चित्त में कुछ भी नहीं है; पर जो मनुष्य आपको अपने चित्त में विराजमान करता है, उसके हाथ में सब कुछ आ जाता है।

इस विरोध का परिहार यह है कि यद्यपि आपके पास किसी को देने के लिए कुछ भी नहीं है और रागभाव न होने से आप मन में भी ऐसा विचार नहीं करते कि मैं अमुक मनुष्य के लिए अमुक वस्तु हूँ। फिर भी भक्त जीव अपनी भावनाओं से शुभ कर्मों का बन्ध कर उनके उदय-काल में सब कुछ पा लेते हैं। अथवा जो यथार्थ में आपको अपने हृदय में धारण कर लेता है, वह आपके समान ही निःस्पृह हो जाता है, उसकी सब इच्छाएँ शान्त हो जाती हैं। वह सोचता है कि मुझे और कुछ नहीं चाहिए। मैं आज आपको अपने चित्त में धारण कर सका मानो तीनों लोकों की सम्पत्तियाँ हमारे हाथ में आ गईं।

केवलज्ञान महिमा

त्रिकाल-तत्त्वं त्वमवैस्त्रिलोकी,
स्वामीति संख्या-नियतेरमीषाम्।

बोधाधिपत्यं प्रति नाभविष्यं
स्तेऽन्येऽपि चेद्व्याप्स्यदमूनपीदम्॥16॥

अन्वयार्थ : त्वम् - आप, त्रिकालतत्त्वम् - भूत, भविष्यत्, वर्तमान - इन तीनों कालों के पदार्थों को, अवैः - जानते हैं तथा, त्रिलोकी स्वामी - ऊर्ध्व, मध्य, पाताल - तीनों लोकों के स्वामी हैं, इति संख्या - इस प्रकार की संख्या, अमीषां नियतेः - उन पदार्थों के निश्चित संख्या वाले होने से, युज्यते - ठीक हो सकती है परन्तु, बोधाधिपत्यं प्रति न - ज्ञान के साम्राज्य के प्रति पूर्वोक्त प्रकार की संख्या ठीक नहीं हो सकती। क्योंकि, इदम् - ज्ञान, चेत् - यदि, ते - वे तथा अन्ये अपि - और भी पदार्थ, अभविष्यत् - होते, तर्हि - तो, अमून् अपि - उन्हें भी, व्याप्स्यत् - व्याप्त कर लेता - जान लेता।

भावार्थ : हे प्रभो! आप तीन काल तथा तीन लोक की बात को जानते हैं। इसलिये आपका ज्ञान भी उतना ही है, जैसा नहीं है; किन्तु आपके ज्ञान का साम्राज्य सब ओर अनन्त है। जितने पदार्थ हैं, उनको तो ज्ञान जानता ही है। यदि इनके सिवाय और भी होते तो ज्ञान उन्हें भी अवश्य ही जानता।

पूजा-पूजक को फलदायी

नाकस्य पत्युः परिकर्म रम्यं,
नागम्यरूपस्य तवोपकारि।
तस्यैव हेतुः स्वसुखस्य भानो-
रुद्विभ्रतच्छत्र - मिवादरेण॥17॥

अन्वयार्थ : नाकस्य पत्युः - इन्द्र की, रम्यम् - मनोहर परिकर्म सेवा, अगम्यरूपस्य - अज्ञेय है स्वरूप जिनका ऐसे, तव - आपका, उपकारि न - उपकार करने वाली नहीं है, किन्तु जिसका स्वरूप अप्राप्य है ऐसे, भानोः आदरेण - सूर्य के लिए आदर पूर्वक, छत्रम् उद्विभ्रतः इव - छत्र धारण करने वाले की तरह, तस्य एव - उस इन्द्र के ही, स्वसुखस्य हेतुः - आत्मसुख का कारण है।

भावार्थ : जिस प्रकार कोई सूर्य के पर छाता लगावे तो उससे सूर्य का कुछ भी उपकार नहीं होता; क्योंकि वह सूर्य छाता लगाने वाले से बहुत ऊपर है, जबकि छाता लगाने वाले को अवश्य ही छाया का सुख होता है।

उसी प्रकार हे प्रभो! इन्द्र जो आपकी सेवा करता था, उससे आपका क्या भला होता था? क्योंकि वह वास्तव में आपके स्वरूप को समझ नहीं सका था, अन्य शुभास्रव होने से उसी का भला होता था।

अकथनीय प्रभु महिमा

क्वोपेक्षकस्त्वं क्व सुखोपदेशः,

स चेत्किमिच्छा-प्रतिकूलवादः।

क्वासौ क्व वा सर्वजगत्प्रियत्वं,

तन्नो यथातथ्यमवेविजं ते॥18॥

अन्वयार्थ : उपेक्षकः त्वम् क्व – राग-द्वेष रहित आप कहाँ? और, सुखोपदेशः क्व – सुख का उपदेश देना कहाँ? चेत् – यदि, सः – सुख का उपदेश आप देते हैं, तर्हि – तो इच्छा, प्रतिकूलवादः क्व – इच्छा के विरुद्ध बोलना ही कहाँ है? अर्थात् आपके इच्छा नहीं है – ऐसा कथन क्यों किया जाता है? असौ क्व – इच्छा के प्रतिकूल बोलना कहाँ? वा – और, सर्वजगत्प्रियत्वम् क्व – सब जीवों को प्रिय होना कहाँ? इस तरह जिस कारण से आपकी प्रत्येक बात में विरोध है, तत् – उस कारण से मैं, ते यथातथ्यम् नो अवेविजम् – आपकी वास्तविकता-असली रूप का विवेचन नहीं कर सकता।

भावार्थ : हे भगवन्! जब आप राग-द्वेष से रहित हैं, तब किसी को सुख का उपदेश कैसे देते हैं? यदि सुख का उपदेश देते हैं तो इच्छा के बिना कैसे उपदेश देते हैं? यदि इच्छा के बिना उपदेश देते हैं तो जगत् के सब जीवों को प्रिय कैसे हैं? इस तरह आपकी सब बातें परस्पर विरुद्ध हैं। दरअसल आपकी असलियत कोई नहीं जान सकता।

उदार गुण सम्पन्नता

तुंगात्फलं यत्तदकिञ्चनाच्च,

प्राप्यं समृद्धान् धनेश्वरादेः।

निरम्भसो ऽप्युच्चतमादिवादे-

नैकापि निर्याति धुनी पयोधेः॥19॥

अन्वयार्थ : तुङ्गात् अकिंचनात् - उदार चित्त वाले दरिद्र मनुष्य से भी, यत्फलम् - जो फल, प्राप्यम् 'अस्ति' प्राप्त हो सकता है, तत् - वह, समृद्धात् धनेश्वरादेः न - सम्पत्तिशाली धनाढ्यों से नहीं प्राप्त हो सकता। ठीक ही तो है, निरम्भसः अपि उच्चतमात् - पानी से शून्य होने पर भी अत्यन्त, अद्रेः इव - ऊँचे पहाड़ के समान, पयोधेः - समुद्र से, एका अपि धुनी - एक भी नदी, न निर्याति - नहीं निकलती है।

भावार्थ : पहाड़ के पास पानी की एक बूँद भी नहीं है, पर उसकी प्रकृति अत्यन्त उन्नत है, अतः उससे कई नदियाँ निकलती हैं; परन्तु समुद्र से जो कि पानी से लबालब भरा रहता है, एक भी नदी नहीं निकलती। इसका कारण है - समुद्र में ऊँचाई का अभाव। भगवान्! मैं जानता हूँ कि आपके पास कुछ भी नहीं है, परन्तु आपका हृदय पर्वत की तरह उन्नत है - दीन नहीं है, इसलिये आपसे हमें जो चीज मिल सकती है, वह अन्य धनाढ्यों से नहीं मिल सकती; क्योंकि समुद्र के समान वे भी ऊँचे नहीं है अर्थात् कृपण हैं।

प्रातिहार्य धारण क्यों?

त्रैलोक्य-सेवा-नियमाय दण्डं,

दध्रे यदिन्द्रो विनयेन तस्य।

तत्प्रातिहार्यं भवतः कुतस्त्यं,

तत्कर्म योगाद्यदि वा तवास्तु॥20॥

अन्वयार्थ : यत्र इन्द्रः - जिस कारण से इन्द्र ने, विनयेन - विनयपूर्वक, त्रैलोक्य-सेवा-नियमाय - तीन लोक के जीवों की सेवा के नियम के लिए अर्थात् मैं त्रिलोक के जीवों की सेवा करूँगा, उन्हें धर्म के मार्ग पर लगाऊँगा, इस उद्देश्य से, दण्डम् दध्रे - दण्ड धारण किया था, तत् प्रातिहार्यम् - उस कारण से प्रतिहारपना, तस्य स्यात् - इन्द्र के ही हो, भवतः कुतस्त्यम् - आपके कहाँ से आया? यदि, वा - अथवा, तत्कर्मयोगात् - इन्द्र के उस कार्य में प्रेरक होने से, तव अस्तु - आपके भी, प्रातिहार्यम् - प्रतिहारपना हो।

भावार्थ : जब भगवान् ऋषभनाथ भोगभूमि के बाद कर्मभूमि की व्यवस्था करने के लिए तैयार हुए, तब इन्द्र ने आकर भगवान की इच्छानुसार मात्र व्यवस्था करने के लिए दण्ड धारण किया था अर्थात् प्रतिहार्य (प्रतिहारी) का पद स्वीकार किया था। किसी काम की व्यवस्था करने के लिए दण्ड धारण किया करता है, उसे प्रातिहार्य कहते हैं। जैसे कि आजकल लाठी धारण किये हुए वॉलेंटियर स्वयं-सेवक होते हैं। प्रतिहार के कार्य अथवा भाव को संस्कृत में प्रातिहार्य कहते हैं।

हे प्रभो! जब इन्द्र ने सब व्यवस्था की थी, तब सच्चा 'प्रातिहार्य' प्रतिहारपना इन्द्र के ही हो सकता है, आपके कैसे हो सकता है? क्योंकि आपने प्रतिहार का काम थोड़े ही किया था। फिर भी यदि आपके प्रतिहार होता ही है - ऐसा कहना है तो उपचार से कहा जा सकता है; क्योंकि आप इन्द्र के उस काम में प्रेरक थे।

अथवा श्लोक का ऐसा भी भाव हो सकता है - 'तीन लोक के जीव भगवान की सेवा करो' - यह नियम को प्रचलित करने के लिए इन्द्र ने हाथ में दण्ड लिया था - इसलिये प्रातिहार्य इन्द्र के ही बन सकता है। आपके नहीं अथवा आपके भी हो सकता है; क्योंकि आपसे ही इन्द्र की उस क्रिया के कर्मकारक का सम्बन्ध होता था।

यहाँ एक ओर भी गुप्त अर्थ है, जो कि इस प्रकार है - लोक में प्रातिहार्य पद का अर्थ आभूषण प्रसिद्ध है। भगवान के भी अशोक वृक्ष आदि आठ प्रातिहार्य आभूषण होते हैं। यहाँ कवि प्रातिहार्य पद के श्लेष से पहले यह बतलाना चाहते हैं कि संसार के अन्य देवों की तरह आपके शरीर पर प्रातिहार्य नहीं है। इन्द्र के प्रातिहार्य-प्रतीहारपना हो, पर आपके प्रातिहार्य आभूषण से कहाँ आये? फिर उपचार पक्ष का आश्रय लेकर कहते हैं कि आपके भी प्रातिहार्य हो सकते हैं। उसका कारण है 'तत्कर्मयोगात्' अर्थात् आभूषणों के कार्य-सौन्दर्य वृद्धि के साथ सम्बन्ध होना।

हे समदृष्टि श्रीमान्!

श्रिया परं पश्यति साधु निःस्वः,

श्रीमात्र कश्चित् कृपणं त्वदन्यः।

यथा प्रकाश-स्थितमन्धकार-

स्थायीक्षतेऽसौ न तथा तमःस्थम्॥21॥

अन्वयार्थ : निःस्वः - निर्धन पुरुष, श्रिया परम् - लक्ष्मी से श्रेष्ठ अर्थात् सम्पन्न मनुष्य को, साधु - अच्छी तरह - आदरभाव से, पश्यति - देखता है किन्तु, त्वदन्यः कश्चित् - आपसे भिन्न कोई, श्रीमान् कृपणम् - सम्पत्तिशाली पुरुष निर्धन को साधु, न पश्यति - अच्छे भावों से नहीं देखता है। ठीक है, अन्धकारस्थायी - अन्धकार में ठहरा हुआ मनुष्य, प्रकाशस्थितम् - उजेले में ठहरे हुए पुरुष को, यथा ईक्षते - जिस प्रकार देख लेता है तथा असौ - उस प्रकार उजेले में स्थित पुरुष तमःस्थम् - अँधेरे में स्थित पुरुष को, न ईक्षते - नहीं देख पाता।

भावार्थ : हे प्रभो! संसार के श्रीमान् निर्धन पुरुषों को बुरी निगाह से देखते हैं, पर आप श्रीमान् होते हुए भी ज्ञानादि सम्पत्ति से रहित मनुष्यों को बुरी निगाह से नहीं देखते। उन्हें अपनाकर हित का उपदेश दे सुखी करते हैं। इसप्रकार आप संसार के अन्य श्रीमानों से भिन्न श्रीमान् ही हैं। दोनों की श्री (लक्ष्मी) में भेद जो ठहरा। उनके पास रुपया-सोना आदि जड़-लक्ष्मी है, पर आपके पास अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य चतुष्टयरूप लक्ष्मी है।

अल्पज्ञानियों द्वारा अज्ञेय

स्वृद्धिनिःश्वास - निमेषभाजि,

प्रत्यक्षमात्मानुभवेऽपि मूढः।

किं चाखिल-ज्ञेयविवर्ति-बोध-

स्वरूपमध्यक्षमवैति लोकः॥२२॥

अन्वयार्थ : प्रत्यक्षम् यः - यह प्रकट है कि जो मनुष्य, स्ववृद्धि-निःश्वासनिमेषभाजि - अपनी वृद्धि श्वासोच्छ्वास और आँखों की टिमकार को प्रातः, आत्मानुभवे अपि - अपने आपके अनुभव करने में, मूढः - मूर्ख है, सः लोकः - वह मनुष्य अखिल, ज्ञेयविवर्तिबोधस्वरूपम् - सम्पूर्ण पदार्थों को जानने वाला ज्ञान ही स्वरूप है जिसका ऐसे, अध्यक्षम् - अध्यात्म स्वरूप आपको, किं च अवेति - कैसे जान सकता है।

भावार्थ : भगवन्! जो मनुष्य अपने आपके स्थूल पदार्थों को भी जानने के लिए समर्थ नहीं है, वह ज्ञानस्वरूप तथा आत्मा में विराजमान आपको कैसे जान सकता है? अर्थात् नहीं जान सकता।

कुलगान नहीं, गुणगान करें
तस्यात्मजस्तस्य पितेति देव!
त्वां येऽवगायन्ति कुलं प्रकाश्य।
तेऽद्यापि नन्वाश्मनमित्यवश्यं,
पाणौ कृतं हेम पुनस्त्यजन्ति॥23॥

अन्वयार्थ : देव - हे नाथ!, ये - जो मनुष्य, आप, तस्य आत्मजः - उसके पुत्र हो और, तस्य पिता - उसके पिता हो, इति कुलम् प्रकाश्य - इस प्रकार कुल का वर्णन कर, त्वाम् अवगायन्ति - आपका अपमान करते हैं, ते अद्य अपि - वे अब भी, पाणौ कृतम् - हाथ में आये हुए, हेम - सुवर्ण को, आश्मनम् - पत्थर से पैदा हुआ है, इति - इस हेतु से पुनः - फिर अवश्य, त्यजन्ति - अवश्य ही छोड़ देते हैं?

भावार्थ : एक तो स्वर्ण हाथ नहीं लगता, यदि किसी तरह लग भी जावे तो उसे यह सोचकर कि इसकी उत्पत्ति पत्थरों से हुई है, फिर फेंक देना मूर्खता है। इसी तरह आपका श्रद्धान व ज्ञान सबको नहीं होता। यदि किसी को हो भी जाये तो वह आपको मनुष्य कुल में पैदा बतलाकर फिर भी छोड़ देता है, यह सबसे बढ़कर मूर्खता है। सुवर्ण शुद्ध है। चाहे वह पत्थर से नहीं, दुनिया के किसी भी हल्के से हल्के पदार्थ से उत्पन्न हुआ हो तो भी बाजार में उसकी कीमत पूरी ही लगेगी और मैल सहित है - अशुद्ध है तो किसी भी अच्छे पदार्थ से उत्पन्न होने पर भी उसकी पूरी कीमत नहीं लग सकती। इसी प्रकार जो आत्मा शुद्ध है, कर्ममल से रहित है; भले ही वह उस पर्याय में नीच कुल में पैदा हुआ हो, पूज्य कहलाता है और यदि वही आत्मा उच्च कुल में पैदा होकर भी अशुद्ध है - मलिन है तो उसे कोई पूछता भी नहीं है।

मोह-सुभट विजेता
दत्तस्त्रिलोक्यां पटहोऽभिभूताः,
सुराऽसुरास्तस्य महान् स लाभः।
मोहस्य मोहस्त्वयि को विरोद्धु-
मूलस्य नाशो बलवद्विरोधः॥24॥

अन्वयार्थ : त्रिलोक्याम् - तीनों लोकों में, पटहः - विजय का नगाड़ा, दत्तः दिया गया - बजाया गया उससे जो, सुरासुराः - सुर और असुर, अभिभूताः - तिरस्कृत हुए, सः - वह, तस्य - उस मोह का, महान् लाभः - बड़ा लाभ हुआ किंतु, त्वयि - आपके विषय में, मोहस्य मोहः जातः - मोह को भी मूर्च्छा प्राप्त हो गई, सो ठीक है, बलवद्विरोधः - बलवान के साथ विरोध करना, विरोद्धुः - विरोध करनेवाले के, मूलस्य नाशः - मानो मूल का नाश करना है।

भावार्थ : हे भगवन्! जिस मोह ने संसार के सब जीवों को अपने वश कर लिया, उस मोह को भी आपने जीत लिया है अर्थात् आप मोह रहित राग-द्वेष शून्य हैं।

नासा-दृष्टि क्यों?

मार्गस्त्वयैको ददृशे विमुक्ते-
श्चतुर्गतीनां गहनं परेण।
सर्वं माया दृष्टमिति स्मयेन,
त्वं मा कदाचिद्-भुजमालुलोकः॥25॥

अन्वयार्थ : त्वया - आपके द्वारा, एकः - एक, विमुक्तेः - मोक्ष का ही, मार्गः - मार्ग, ददृशे - देखा गया है और, परेण - दूसरे के द्वारा, चतुर्गतीनाम् - चारों गतियों का, गहनं ददृशे - सघन वन देखा गया है मानो इसलिये, त्वम् - आपने मया, सर्वं दृष्टम् - मैंने सब कुछ देखा है, इति स्मयेन - इस अभिमान से, कदाचित् - कभी भी, भुजम् - अपनी भुजा को, मा आलुलोक - नहीं देखा था।

भावार्थ : घमण्डियों का स्वभाव होता है कि वे अपने को बड़ा समझकर बार-बार अपनी भुजाओं की तरफ देखते हैं, पर आपने घमण्ड से कभी अपनी भुजा की तरफ नहीं देखा। उसका कारण यह है कि आप सोचते थे कि मैंने तो सिर्फ एक मोक्ष का ही रास्ता देखा है और अन्य देवी-देवता चारों गतियों के रास्तों से परिचित हैं; इसलिये मैं उनके सामने अल्पज्ञ हूँ। अल्पज्ञ का बहुज्ञानियों के सामने अभिमान कैसा? श्लोक का तात्पर्य यह है कि आप अभिमान से रहित हैं और निश्चित ही मोक्ष को प्राप्त हैं, परन्तु अन्य देवता अपने अपने कार्यों के अनुसार नरक आदि चारों गतियों में घूमा करते हैं।

अविनाशी अविकार

स्वर्भानुरर्कस्य हविर्भुजोऽम्भः
कल्पान्तवातोऽम्बुनिधेर्विघातः।
संसार-भोगस्य वियोगभावो,
विपक्ष - पूर्वाभ्युदयास्त्वदन्ये॥26॥

अन्वयार्थ : स्वभानुः अर्कस्य अम्भः - राहु सूर्य का, पानी, हविर्भुजः कल्पान्तवातः - अग्नि का, प्रलयकाल की वायु, अम्बुनिधेः - समुद्र का तथा, वियोगभावः - विरहभाव, संसारभोगस्य - संसार के भोगों का, विघातः - नाश करने वाला है, इस तरह, त्वदन्ये - आपसे भिन्न सब पदार्थ, विपक्षपूर्वाभ्युदयाः सन्ति - विनाश के साथ ही उदय होते हैं।

भावार्थ : हे प्रभो! संसार के सब पदार्थ अनित्य हैं। सिर्फ आप ही सामान्य स्वरूप की अपेक्षा नित्य हैं अर्थात् आप जन्म-मरण से रहित हैं और आपकी यह विशुद्धता भी कभी नष्ट नहीं होती।

प्रभु नमस्कार सु-फल प्रदाता

अजानतस्त्वां नमतः फलं यत्-
तज्जानतोऽन्यं न तु देवतेति।
हरिन्मणिं काचधिया दधान-
स्तं तस्य बुद्ध्या वहतो न रिक्तः॥27॥

अन्वयार्थ : त्वाम् अजानतः - आपके बिना जाने की, नमतः - नमस्कार करने वाले पुरुष को, यत्फलम् - जो फल होता है, तत् - वह फल अन्य देवता, इति जानतः - दूसरे को देवता है इस तरह जानने वाले पुरुष को, न तु हरिन्मणिम् - नहीं होता; क्योंकि हरे मणि को, काचधिया - काँच की बुद्धि से, दधानः - धारण करने वाला पुरुष, तं तस्य बुद्ध्या वहतः - हरे मणि को हरे मणि की बुद्धि से धारण करने वाले पुरुष की अपेक्षा, रिक्तः न - दरिद्र नहीं है।

भावार्थ : हे भगवन्! जो आपको नमस्कार करता है, पर आपके स्वरूप को नहीं

जानता, उसे भी जो पुण्यबंध होता है; वह किसी दूसरे को देवता मानने वाले पुरुष को नहीं होता। जिस तरह कोई अज्ञानी मनुष्य हरित मणि को पहनकर उसे काँच समझता है तो वह दूसरे की निगाह में जो मणि को मणि समझकर पहन रहा है, निर्धन नहीं कहलाता। वे दोनों एक जैसी संपत्ति के अधिकारी कहे जाते हैं। श्रद्धा और विवेक के साथ प्राप्त हुआ अल्प ज्ञान भी प्रशंसनीय है।

देव मूढ़ता

प्रशस्त-वाचश्चतुराः कषायै-
दग्धस्य देव-व्यवहारमाहुः।
गतस्य दीपस्य हि नन्दितत्वं,
दृष्टं कपालस्य च मंगलत्वम्॥28॥

अन्वयार्थ : प्रशस्तवाचः - सुन्दर वचन बोलने वाले, चतुराः - चतुर मनुष्य, कषायैः दग्धस्य - कषायों से जले हुए पुरुष के भी, देवव्यवहारम् आहुः - देव शब्द का व्यवहार करना कहते हैं। सो ठीक ही है कि, गतस्य दीपस्य - क्योंकि बुझे हुए दीपक का, नन्दितत्वं च - बढ़ना और, कपालस्य मङ्गलत्वम् - फूटे हुए घड़े का मंगलपन, दृष्टम् - देखा गया है।

भावार्थ : हे भगवन्! लौकिक मनुष्य रागी-द्वेषी जीवों के भी देव शब्द का व्यवहार करते हैं, सो सिर्फ लोक व्यवहार से ही किसी बात की सत्यता नहीं होती; क्योंकि लोक में कितनी ही बातों का उलटा व्यवहार होता है। जैसे कि जब दीपक बुझ जाता है, तब लोग कहते हैं कि दीपक बढ़ गया और जब घड़ा फूट जाता है, तब लोग कहने लगते हैं कि घड़े का कल्याण हो गया।

निर्दोष वक्ता

नानार्थमेकार्थ - मदस्त्वदुक्तं,
हितं वचस्ते निशम्य वक्तुः।
निर्दोषतां के न विभावयन्ति,
ज्वरेण मुक्तः सुगमः स्वरेण॥29॥

अन्वयार्थ : नानार्थम् – अनेक अर्थों के प्रतिपादक तथा, एकार्थम् – एक ही प्रयोजन युक्त, त्वदुक्तम् – आपके कहे हुए, अदः हितं वचः – इन हितकारी वचनों को निशाम्य – सुनकर, ते वक्तुः – कौन मनुष्य आप वक्ता की, निर्दोषताम् – निर्दोषता को न, विभावयन्ति – नहीं अनुभव करते हैं अर्थात् सभी करते हैं। जैसे यः – जो, ज्वरेण मुक्तः भवति – ज्वर से मुक्त हो जाता है, सः – वह, स्वरेण सुगमः भवति – स्वर से सुगम हो जाता है अर्थात् वह सब स्वरों का अच्छी तरह उच्चारण कर सकता है।

भावार्थ : आपके वचन नानार्थ होकर भी एकार्थ हैं। यहाँ प्रारम्भ में विरोध मालूम होता है, पर अन्त में उसका इस प्रकार परिहार हो जाता है कि आपके वचन स्याद्वाद सिद्धान्त से अनेक अर्थों का प्रतिपादन करने वाले हैं, फिर भी एक ही प्रयोजन को सिद्ध करते हैं अर्थात् पूर्वापर विरोध से रहित हैं। हे भगवन्! आपके हितकारी वचनों को सुनकर यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि आप निर्दोष हैं, क्योंकि सदोष पुरुष वैसे वचन नहीं बोल सकता। जैसे कि किसी की अच्छी आवाज सुनकर साफ मालूम हो जाता है कि वह ज्वर से मुक्त है, क्योंकि ज्वर से पीड़ित मनुष्य का स्वर अच्छा नहीं होता।

स्वाभाविक वचन प्रवृत्ति

न क्वापि वाञ्छा ववृते च वाक् ते,

काले क्वचित् कोऽपि तथा नियोगः।

न पूर्याम्यम्बुधिमित्युदंशुः,

स्वयं हि शीतद्युतिरभ्युदेति॥३०॥

अन्वयार्थ : क्वापि – आपकी किसी भी वस्तु में, वाञ्छा न – इच्छा नहीं है और, वाक् ववृते – वचन प्रवृत्त होते हैं। सचमुच में, क्वचित् काले तथा – किसी काल में वैसा, कः अपि नियोगः – कोई नियोग-नियम ही होता है, हि – क्योंकि, शीतद्युतिः – चन्द्रमा, अम्बुधिम् पूर्यामि – मैं समुद्र को पूर्ण कर दूँ, इति उदंशुः न भवति – इसलिए उदित नहीं होता किन्तु, स्वयम् अभ्युदेति – स्वभाव से ही उदित होता है।

भावार्थ : जिस प्रकार चन्द्रमा यह इच्छा रखकर उदित नहीं होता कि मैं समुद्र को लहरों से भर दूँ, पर उसका वैसा स्वभाव ही है कि चन्द्रमा का उदय होने पर समुद्र में लहरें उठने लगती हैं। इसी प्रकार आपके यह इच्छा नहीं है कि मैं कुछ बोलूँ, पर वैसा स्वभाव होने से आपके वचन प्रकट होने लगते हैं।

अनंत गुण-अनंत महिमा

गुणा गभीराः परमाः प्रसन्ना,
बहु-प्रकारा बहवस्तवेति।
दृष्टोऽयमन्तः स्तवने न तेषां,
गुणो गुणानां किमतः परोस्ति॥31॥

अन्वयार्थ : तव गुणाः गभीराः - आपके गुण गंभीर, परमाः प्रसन्नाः - उत्कृष्ट उज्ज्वल, बहुप्रकाराः बहवः - अनेक प्रकार के और बहुत हैं, इति अयम् तेषाम् - इस प्रकार ही उनका, अन्तः दृष्टः - अन्त देखा जाता है अर्थात् वे गुण आपको छोड़कर अन्य किसी में नहीं पाये जाते, स्तवनेन - स्तुति में उनका अन्त नहीं देखा जाता, क्योंकि वे अनन्त हैं। गुणानाम् अतः परः - गुणों का इससे बढ़कर, कः गुणः अस्ति - अन्य क्या गुण है। अर्थात् कुछ नहीं।

भावार्थ : हे भगवन्! आपके निर्मल गुण संख्या रहित और अनुपम हैं।

भक्ति, स्मरण, नमस्कार इष्टफल साधक

स्तुत्या परं नाभिमतं हि भक्त्या,
स्मृत्या प्रणत्या च ततो भजामि।
स्मरामि देवं प्रणमामि नित्यं
केनाप्युपायेन फलं हि साध्यम्॥32॥

अन्वयार्थ : स्तुत्या हि - स्तुति के द्वारा ही, अभिमतम् न - इच्छित वस्तु की सिद्धि नहीं होती, परम् - किन्तु, भक्त्या स्मृत्या च प्रणत्या - भक्ति, स्मृति और नमस्कृति से भी, ततः नित्यम् - इसलिये मैं हमेशा, देवम् भजामि, स्मरामि,

प्रणमामि – आपकी भक्ति करता हूँ, आपका स्मरण करता हूँ और आपको प्रणाम करता हूँ, **हि** – क्योंकि, **फलम्** – इच्छित वस्तु की प्राप्तिरूप फल को, **केन अपि उपायेन साध्यम्** – किसी भी उपाय से सिद्ध कर लेना चाहिए।

भावार्थ : हे भगवन्! आपकी स्तुति से, भक्ति से, स्मृति-ध्यान से और प्रणति से जीवों को इच्छित फलों की प्राप्ति होती है; इसलिये मैं प्रतिदिन आपकी स्तुति करता हूँ, भक्ति करता हूँ, ध्यान करता हूँ और नमस्कार करता हूँ; क्योंकि मुझे जैसे बने तैसे अपना कार्य सिद्ध करना है।

वन्दनीय जिनवर की वन्दना
 ततस्त्रिलोकी – नगराधिदेवं,
 नित्यं परं ज्योतिरनन्तशक्तिम्।
 अपुण्य-पापं पर-पुण्य हेतुं,
 नमाम्यहं वन्द्यमवन्दितारम्॥३३॥

अन्वयार्थ : ततः अहम् – इसलिए मैं, त्रिलोकीनगराधिदेवम् – तीन लोक रूप नगर के अधिपति, नित्यम् – विनाशरहित, परमज्योतिः – श्रेष्ठ ज्ञानज्योति स्वरूप, अनन्तशक्तिम् – अनन्त वीर्य से सहित, अपुण्यपापम् – स्वयं पुण्य और पाप से रहित होकर भी, परपुण्यहेतुम् – दूसरे के पुण्य के कारण तथा, वन्द्यम् – वन्दना करने के योग्य होकर भी स्वयं, अवन्दितारम् – किसी को नहीं वन्दने वाले, भवन्तम् नमामि – आपको नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ : हे भगवन्! आप तीन लोक के स्वामी हैं, आपका कभी विनाश नहीं होता, सर्वोत्कृष्ट हैं, केवलज्ञानरूपी ज्योति से प्रकाशमान हैं, आप में अनन्त बल है, आप स्वयं पुण्य-पाप से रहित हैं; पर अपने भक्तजनों के पुण्यबन्ध में निमित्त कारण हैं, आप किसी को नमस्कार नहीं करते, पर सब लोग आपको नमस्कार करते हैं। आपकी इस विचित्रता से मुग्ध हो मैं भी आपके लिए नमस्कार करता हूँ।

प्रतिक्षण स्मरणीय

अशब्दमस्पर्शमरूप – गन्धं
 त्वां नीरसं तद्विषयावबोधम्।

सर्वस्य मातार-ममेयमन्यै-
जिनेन्द्रमस्मार्यमनु - स्मरामि॥34॥

अन्वयार्थ : अशब्दम् अस्पर्शम् - शब्द रहित, स्पर्श रहित, अरूपगन्धम् - रूप और गन्धरहित तथा, नीरसम् - रसरहित होकर भी, तद्विषयावबोधम् - उनके ज्ञान से सहित, सर्वस्व मातारम् - सबके जानने वाले होकर भी, अन्यैः - दूसरों के द्वारा, अमेयम् - नहीं जानने योग्य तथा, अस्मार्यम् - जिनका स्मरण नहीं किया जा सकता ऐसे जिनेन्द्रम् अनुस्मरामि - जिनेन्द्र भगवान का प्रतिक्षण स्मरण करता हूँ - ध्यान करता हूँ।

भावार्थ : हे भगवन्! आप रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द से रहित हैं, अमूर्तिक हैं, फिर भी उन्हें जानते हैं। आप सबको जानते हैं, पर आपको कोई नहीं जान पाता। यद्यपि आपका मन से भी कोई स्मरण नहीं कर सकता; तथापि मैं अपने बाल साहस से आपका क्षण-क्षण में स्मरण करता हूँ।

शरण प्राप्ति

अगाध - मन्यैर्मनसाप्यलंघ्यं,
निष्किञ्चनं प्रार्थितमर्थवद्भिः।
विश्वस्य पारं तमदृष्टपारं,
पतिं जनानां शरणं ब्रजामि॥35॥

अन्वयार्थ : अगाधम् - गम्भीर, अन्यैः - दूसरों के द्वारा, मनसा अपि अलंघ्यम् - मन से भी उल्लंघन करने के अयोग्य अर्थात्, अचिन्त्यनिष्किञ्चनम् अर्थवद्भिः - निर्धन होने पर भी धनाढ्यों के द्वारा, प्रार्थितम् - याचित, विश्वस्य पारम् - सबके पार स्वरूप होने पर भी, अदृष्टपारम् - जिनका पार-अन्त कोई नहीं देख सकता है ऐसे, तत् जनानाम् पतिम् - उन नरनाथ की, शरणम् ब्रजामि - शरण को प्राप्त होता है।

भावार्थ : हे भगवन्! आप बहुत ही गम्भीर-धैर्यवान् हैं। आपका कोई मन से भी

चिन्तवन नहीं कर सकता। यद्यपि आपके पास देने के लिए कुछ भी नहीं है तो भी धनिक लोग (अथवा याचक वर्ग) आपसे याचना करते हैं, आप सबके पार को जानते हैं; पर आपके पार को कोई नहीं जान सकता और आप जगत के जीवों के पति-रक्षक हैं - ऐसा सोचकर मैं भी आपकी शरण में आया हूँ।

स्वभाव से सर्वोन्नत

त्रैलोक्य-दीक्षा-गुरवे नमस्ते,
यो वर्धमानोऽपि निजोन्नतोऽभूत्।
प्राग्गण्डशैलः पुनरद्रि-कल्पः,
पश्चान्न मेरुः कुल-पर्वतोऽभूत्॥36॥

अन्वयार्थ : त्रैलोक्यदीक्षा-गुरवे ते नमः यः - त्रिभुवन के जीवों के दीक्षा गुरु स्वरूप आपके लिए नमस्कार हो जो आप, वर्धमानः अपि - क्रम से उन्नति को प्राप्त हुए भी (पक्ष में अंतिम तीर्थंकर), निजोन्नतः अभूत् - स्वयमेव उन्नत हुए थे। मेरुः प्राक् गण्डशैलः - मेरु पर्वत पहले गोल पत्थरों का ढेर, पुनः आद्रिकल्पः पश्चात् - फिर पहाड़ और फिर, कुलपर्वतः कुलाचल, न अभूत् - नहीं हुआ था, किंतु स्वभाव से वैसा ही था।

भावार्थ : हे प्रभो! आप तीन लोक के जीवों के दीक्षागुरु हैं, इसलिये आपको नमस्कार हो। इस श्लोक के द्वितीय पाद में विरोधाभास अलंकार है। वह इस तरह कि आप अभी वर्धमान हैं अर्थात् क्रम से बढ़ रहे हैं; फिर भी निजोन्नत - अपने आप उन्नत हुए थे। जो चीज अभी बढ़ रही है, वह पहले उससे छोटी भी होती है, न कि बड़ी; पर यहाँ इससे विपरीत बात है।

विरोध का परिहार इस प्रकार है कि आप वर्धमान अंतिम तीर्थंकर होकर भी स्वयमेव उन्नत थे, न कि क्रम-क्रम से उन्नत हुए थे; क्योंकि मेरु पर्वत आज जितना उन्नत है, उतना उन्नत हमेशा ही था, न कि क्रम-क्रम से उन्नत हुआ है। यहाँ वर्धमान पद (शब्द) श्लिष्ट है।

एक रूप परमात्मा

स्वयंप्रकाशस्य दिवा निशा वा,
न बाध्यता यस्य न बाधकत्वम्।
न लाघवं गौरवमेकरूपं
वन्दे विभुं कालकलामतीतम्॥37॥

अन्वयार्थ : स्वयंप्रकाशस्य यस्य – स्वयं प्रकाशमान रहने वाले जिसके, दिवा निशा वा – दिन और रात की तरह, न बाध्यता न बाधकत्वम् – न बाध्यता है और न बाधकपना भी। इसी प्रकार जिसके, न लाघवं गौरवम् – न लघु है, न गुरु भी उन, एकरूपम् – एकरूप रहने वाले और, कालकलाम् अतीतम् – काल की कला से रहित अर्थात् अन्तरहित, विभुम् वन्दे – परमेश्वर को वन्दना करता हूँ।

भावार्थ : स्वयं प्रकाशमान पदार्थ के पास जिस प्रकार रात और दिन का व्यवहार नहीं होता; क्योंकि प्रकाश के अभाव को रात कहते हैं और रात के अभाव को दिन कहते हैं। जो हमेशा प्रकाशमान रहता है, उसके पास अन्धकार न होने से रात का व्यवहार नहीं होता और जब रात का व्यवहार नहीं है, तब उसके अभाव में होने वाले दिन का व्यवहार भी नहीं होता।

उसी प्रकार आप में भी बाध्यता और बाधक का व्यवहार नहीं है। आप किसी को बाधा नहीं पहुँचाते, इसलिये आप में बाधकत्व नहीं है और कोई आपको भी बाधा नहीं पहुँचा सकता, इसलिये आप बाध्य नहीं हैं। जिसमें बाध्य का व्यवहार नहीं, उसमें बाधक का भी व्यवहार नहीं हो सकता, क्योंकि ये दोनों धर्म परस्पर में सापेक्ष हैं; उसी प्रकार आपमें न लाघव ही है और न गुरुत्व ही। दोनों सापेक्ष धर्मों से रहित हैं। आप अगुरुलघुरूप हैं। हे भगवन्! आप समय की मर्यादा से भी रहित हैं अर्थात् अनन्त काल तक ऐसे ही रहे आयेंगे।

स्तुति से स्वयं फल-सिद्धि

इति स्तुतिं देव विधाय दैन्याद्-
वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि।

छाया तरुं संश्रयतः स्वतः स्यात्-

कश्छायया याचितयात्मलाभः॥38॥

अन्वयार्थ : देव - हे देव! इति स्तुतिम् विधाय - इस प्रकार स्तुति करके मैं, दैन्यात् - दीनभाव से, वरम् न - वरदान नहीं, याचे - माँगता, क्योंकि त्वम् उपेक्षकः असि - आप उपेक्षक हैं - राग-द्वेष से रहित हैं अथवा, तरुम् संश्रयतः - वृक्ष का आश्रय करने वाले पुरुष को, छाया स्वतः स्यात् - छाया स्वयं प्राप्त हो जाती है याचितया छायया कः आत्मलाभः - छाया की याचना से क्या लाभ है?

भावार्थ : हे भगवन्! मैं सर्प से डसे हुए मृतप्राय पुत्र को आपके सामने लाया हूँ, इसलिये स्तुति कर चुकने के बाद मैं आपसे यह वरदान नहीं माँगता कि आप मेरे लड़के को स्वस्थ कर दें; क्योंकि मैं जानता हूँ आप राग-द्वेष से रहित हैं, परम वीतरागी उपेक्षा भाव से विभूषित हैं; इसलिये न किसी को कुछ देते हैं और न किसी से कुछ ग्रहण भी करते हैं। स्तुति करने वाले को तो फल की प्राप्ति स्वयं ही हो जाती है। जैसे - जो मनुष्य वृक्ष के नीचे पहुँचेगा, उसे छाया स्वयं प्राप्त हो जाती है। छाया की याचना करने से कोई लाभ नहीं होता।

मेरी भक्ति रहे आपमें

अथास्ति दित्सा यदि वोपरोध-

स्त्वय्येव सक्तां दिश भक्ति-बुद्धिम्।

करिष्यते देव तथा कृपां मे,

को वात्मपोष्ये सुमुखो न सूरिः॥39॥

अन्वयार्थ : अथ दित्सा अस्ति - यदि आपकी कुछ देने की इच्छा है, यदि वा - अथवा, वरदान माँगो ऐसा, उपरोधः अस्ति - आग्रह है तो, त्वयि एव सक्ताम् - आप में लीन, भक्तिबुद्धिम् - भक्तिमयी भावना को, दिश - देओ। मेरा विश्वास है कि, देव मे तथा - हे देव! आप मुझ पर वैसी, कृपाम् करिष्यते - दया करेंगे, आत्मपोष्ये - अपने द्वारा पोषण करने के योग्य शिष्य पर, को वा सूरिः - कौन पण्डित पुरुष, सुमुखो न भवति - अनुकूल नहीं होता। अर्थात् सभी होते हैं।

भावार्थ : हे नाथ! यदि आपकी कुछ देने की इच्छा है तो मैं आपसे यही चाहता हूँ कि मेरी भक्ति आपमें ही रहे। मेरा विश्वास है कि आप मुझ पर उतनी कृपा अवश्य करेंगे; क्योंकि विद्वान् पुरुष अपने आश्रित रहने वाले शिष्य की इच्छाओं को हमेशा पूर्ण ही करते हैं।

धन, जय, सुख, यश-प्रदात्री जिनभक्ति

पुष्पिताग्रा छन्द

वितरित विहिता यथाकथंचि-

ज्जिनविनताय मनीषितानि भक्तिः।

त्वयि नुति-विषया पुनर्विशेषाद्,

दिशति सुखानि यशो 'धनं जयं' च॥40॥

अन्वयार्थ : जिन यथाकथञ्चित् - हे जिनेन्द्र! जिस किसी तरह, विहिता भक्तिः - की गई भक्ति, विनताय - नम्र मनुष्य के लिए, मनीषितानि वितरित - इच्छित वस्तुएँ देती है, पुनः त्वयि - फिर आपके विषय में की गई, नुतिविषया - स्तुति विषयक, भक्तिविशेषात् - विशेष रूप से, सुखानि यशः धनम् - सुख, कीर्ति, धन-सम्पत्ति, च - और, जयम् दिशति - जीत को देती है।

भावार्थ : हे भगवन्! आपकी भक्ति से सुख, यश, धन तथा विजय आदि की प्राप्ति होती है अर्थात् आपकी भक्ति से ऐसा कौन-सा पदार्थ है, जो प्राप्त नहीं होता है। सभी पदार्थ बिना याचना के ही प्राप्त हो जाते हैं। अतः आपकी भक्ति ही मेरे लिए शरणभूत है।

॥ इति श्री विषापहारस्तोत्रम् ॥

23. श्री जिनचतुर्विंशतिका-स्त्रोतम्

श्री भूपाल कवि प्रणीत

शार्दूलविक्रीडित

श्री लीलायतनं मही-कुल-गृहं, कीर्ति-प्रमोदास्पदं,
वाग्देवी-रति-केतनं जय-रमा, क्रीडा-निधानं महत् ।
स स्यात् सर्व-महोत्सवैक-भवनं, यः प्रार्थितार्थ-प्रदं,
प्रातः पश्यति कल्पपादपदलच्छायं जिनाङ्घ्रिद्वयम् ॥1॥

अन्वयार्थ : यः - जो मनुष्य, प्रातः - प्रभात के समय, प्रार्थितार्थ - इच्छित वस्तुओं को, प्रदम् - देने वाले तथा, कल्पपाद - कल्पवृक्ष के, पदलच्छायम् - पल्लव समान कान्ति के धारक, जिन - जिनेन्द्र भगवान के, अङ्घ्रिद्वयम् - चरण-युगल को, पश्यति - देखता है अर्थात् उनके दर्शन करता है, सः - वह, श्री - लक्ष्मी का, लीलायतनम् - क्रीडागृह, मही - पृथ्वी का, कुलगृहम् - कुल भवन, कीर्ति - यश और, प्रमोद - हर्ष का, आस्पदम् - स्थान, वाग्देवी - सरस्वती, रति - क्रीडा, केतनम् - मन्दिर, जय - विजय, रमा - लक्ष्मी का, महत् - विशाल, क्रीडा - क्रीडा, निधानम् - स्थान और, सर्व - सब, महोत्सव - बड़े-बड़े उत्सवों का एक, भवनम् - मुख्य घर, स्यात् - होता है ।

अर्थ : जो मनुष्य प्रतिदिन प्रातःकाल के समय जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन करता है, वह बहुत ही सम्पत्तिशाली होता है, पृथ्वी उसके वश में रहती है, उसकी कीर्ति सब ओर फैल जाती है, वह हमेशा प्रसन्न रहता है, उसे अनेक विद्याएँ प्राप्त हो जाती हैं, युद्ध में उसकी विजय होती है। अधिक क्या कहें, उसे सब उत्सव प्राप्त होते हैं ।

वसन्ततिलका

शान्तं वपुः श्रवण-हारि वचश्चरित्रं,
सर्वोपकारि तव देव ततः श्रुतज्ञाः ।

संसार-मारव-महास्थल-रुन्द्र-सान्द्र-

छाया-महीरुह! भवन्तमुपाश्रयन्ते ॥2॥

अन्वयार्थ : देव - हे देव, तव - आपका, वपुः - शरीर, शान्तम् - शान्त है, वचः - वचन, श्रवण - कानों को, हारि - प्रिय हैं और, चरित्रम् - चारित्र, सर्व सबका, उपकारि - भला करने वाला है, ततः - इसलिये, संसार - हे संसार रूप, मारवमहास्थल - मरुस्थल में, रुन्द्रसान्द्रछाया - विस्तृत सघन छाया, महीरुह - वृक्ष, श्रुतज्ञाः - शास्त्रों के जानने वाले विद्वान पुरुष, भवन्तम् - आपका, उपाश्रयन्ते - आश्रय करते हैं।

अर्थ : मरुस्थल प्रदेश में छाया वाले वृक्ष बहुत कम होते हैं, इसीलिये मार्ग में पथिकों को बहुत तकलीफ होती है। वे थके हुए पथिक जब किसी छायादार वृक्ष को पाते हैं, तब बड़े खुश होते हैं और उसकी सघन शीतल छाया में बैठकर अपना सब परिश्रम भूल जाते हैं।

इसी तरह संसार में मरुस्थल में आप जैसे छायादार वृक्षों की बहुत कमी है, इसलिये मोक्ष-नगर को जाने वाले पथिक रास्तों में बहुत तकलीफ उठाते हैं। पर जब उन्हें आप जैसे छायादार वृक्ष की प्राप्ति हो जाती है, तब वे बहुत ही खुश होते हैं और आपके आश्रय में बैठकर अपने सब दुःख भूल जाते हैं।

शार्दूलविक्रीडित

स्वामिन्नद्य विनिर्गतोऽस्मि जननी-गर्भान्ध-कूपोदरा-

दद्योद्घाटित-दृष्टिरश्मिफलवज्जन्मास्मि चाद्य स्फुटम्।

त्वमद्राक्षमहं यदक्षय-पदा-नन्दाय लोकत्रयी-

नेत्रेन्दीवर काननेन्दु-ममृत-स्यन्दिप्रभा-चन्द्रिकम् ॥3॥

अन्वयार्थ : स्वामिन् - हे नाथ!, यत् जिन कारण से, अहम् मैंने, लोकत्रीय - त्रिभुवन के जीवों के, नेत्रेन्दीवर - नेत्र रूपी कुमुद, कानन - वन को विकसित करने के लिए, इन्दुम् - चन्द्रमा रूप तथा, स्यन्दिप्रभा - जिनकी कान्ति रूपी, चन्द्रिकम् - चाँदनी, अमृत - अमृत को प्रवाहित करती है ऐसे, त्वाम् - आपको, अक्षय अविनाशी पद के, आनन्दमय - आनन्द के लिये, अद्राक्षम् - देखा/अर्थात् आपके दर्शन किये, तत् - उस कारण से, स्पष्ट - स्पष्ट है कि, अद्य - आज मैं, जननी - माता के,

गर्भान्ध - गर्भ रूप अँधेरे, कूपोदरात् - कुएँ से, विनिर्गतः अस्मि - निकला हूँ, अद्य उद्घाटितदृष्टिः अस्मि - आज प्रकट हुई दृष्टि जिसकी ऐसा हुआ हूँ, च - और, अद्य - आज, फलवत् - सफल, जन्म - जन्म, अस्मि - हुआ है।

अर्थ : हे भगवन्! आज आपके दर्शन कर मैं समझता हूँ कि आज ही पैदा हुआ हूँ; क्योंकि मेरा अब तक का समय आपके दर्शन के बिना व्यर्थ ही गया। आज ही मेरी दृष्टि खुली है, आपके पहले मानो मैं देखते हुए भी अन्धा था और आज ही मेरा जन्म सफल हुआ है।

शार्दूलविक्रीडित

निःशेष-त्रिदशेन्द्र-शेखर-शिखा-रत्न प्रदीपावली-

सान्द्रीभूत-मृगेन्द्र-विष्टर-तटी-माणिक्य-दीपावलिः।

क्वेयं श्रीः क्व च निःस्पृहत्वमिदमित्यूहातिगस्त्वादृशः,

सर्व - ज्ञान - दृशश्चरित्र - महिमा लोकेश! लोकोत्तरः ॥४॥

अन्वयार्थ :ह्रनिःशेष - समस्त, त्रिदशेन्द्र - इन्द्रों के, शेखर - मुकुटों के, शिखा - अग्रभाग पर लगे हुए, रत्न - रत्नरूप, प्रदीप - दीपकों की, आवली - पंक्ति से, सान्द्रीभूत - सघन हैं, मृगेन्द्र विष्टर - सिंहासन के, तटी - तट पर लगे हुए, माणिक्य - मणिमय, दीप दीपकों की, आवलिः - पंक्ति जिसमें ऐसी, इदम् श्रीः - यह लक्ष्मी, क्व - कहाँ?, च - और, इदम् - यह, निःस्पृहत्वम् - इच्छा का अभाव, इति - इस प्रकार, लोकेश - हे त्रिभुवन के स्वामिन्!, त्वादृशः - आप जैसे सर्वज्ञानी सर्वदर्शी की, लोकोत्तरः - सर्वश्रेष्ठ, चरित्रमहिमा - चरित्र की महिमा (ऊहातिगः अस्ति), तर्क के अगोचर है।

अर्थ :ह्रहे भगवन्! आप सम्पूर्ण इन्द्रों के मुकुटों के अग्रभाग पर लगे हुए रत्न-रूप दीपकों की पंक्ति से सघन है, सिंहासन के तट पर लगे हुए मणिमय दीपकों की पंक्ति, जिसमें ऐसी समवशरण रूप लक्ष्मी से सहित होने पर भी उसमें स्पृहा से/इच्छा से रहित हैं, इससे मालूम होता है कि आपका चरित्र 'ऐसा क्यों है?' यह तर्क का विषय नहीं है।

शार्दूलविक्रीडित

राज्यं शासनकारि-नाकपति यत् त्यक्तं तृणावज्ञया,
हेला-निर्दलित-त्रिलोक-महिमा यन्मोहमल्लो जितः ।
लोकालोकमपि स्वबोधमुकुरस्यान्तः कृतं यत् त्वया,
सौषाश्चर्य-परम्परा जिनवर क्वान्यत्र संभाव्यते ॥5॥

अन्वयार्थ :हजिनवर - हे जिनेन्द्र!, शासनकारि - आज्ञाकारी है, नाकपति - इन्द्र जिसमें ऐसा राज्य, यत् - जो, त्वया - आपके द्वारा, तृणावज्ञया - तृण जैसी अनादर बुद्धि से, त्यक्तम् - छोड़ दिया गया है, हेला - अनायास ही, निर्दलित - खण्डित कर दी है, त्रिलोक - तीन लोक के जीवों की, महिमा - महिमा जिसने ऐसा, मोहमल्लः - मोह रूपी योद्धा, यत् - जो, जितः - जीता गया है तथा, यत् - जो, लोकालोकम् अपि - लोक अलोक का समाहार समूह भी, स्वबोध - अपने ज्ञानरूप, मुकुरस्य - दर्पण के, अन्तः - भीतर, कृतम् - किया गया है, एषा सा - यह प्रसिद्ध, आश्चर्य - आश्चर्य, परम्परा - परिपाटी अन्यत्र, क्व - आपको, छोड़कर - दूसरी जगह कहाँ, संभाव्यते - संभव हो सकती है ।

अर्थ :हहे भगवन्! आपने विशाल राज्य को तृण के समान तुच्छ समझकर छोड़ दिया, आपने त्रिलोक विजयी मोहमल्ल को जीत लिया और आपने लोक-अलोक का ज्ञान प्राप्त कर लिया । यह विशेषता आपको छोड़कर अन्य मत सम्बन्धी देवों में नहीं हो सकती ।

शार्दूलविक्रीडित

दानं ज्ञान-धनाय दत्तमसकृत् पात्राय सद्वृत्तये,
चीर्णान्युग्रतपांसि तेन सुचिरं, पूजाश्च बहवः कृताः ।
शीलानां निचयः सहामलगुणैः सर्वः समासादितो,
दृष्टस्त्वं जिन येन दृष्टिसुभगः श्रद्धापरेण क्षणम् ॥6॥

अन्वयार्थ : जिन - हे जिनेन्द्र!, दृष्टिसुभगः - आँखों को प्रिय लगने वाले, त्वम् - आप, येन श्रद्धापरेण - जिन श्रद्धालु के द्वारा, क्षणम् - एक क्षण भर भी, दृष्टः - देखे गये हो मानो, तेन - उसने, ज्ञानधनाय - ज्ञान ही है धन जिसका ऐसे तथा, सद्वृत्तये -

सदाचारी, पात्राय – पात्र के लिए, असकृत् – कई बार, दानम् – दान, दत्तम् – दिया है, उग्रतपांसि चीर्णानि – कठिन तपस्याओं का संचय किया है, सुचिरम् – चिरकाल तक, बह्वयः पूजाः कृताः – अनेक पूजाएँ की हैं और, अमलगुणैः सह – निर्मल गुणों के साथ, शीलानां सर्वः निचयः समासादितः – शीलव्रतों का समूह प्राप्त कर लिया है।

अर्थ : हे भगवन्! जिस मनुष्य ने श्रद्धापूर्वक आपको क्षण भर भी देख लिया है तो मानो उसने ज्ञान ही है धन जिसका – ऐसे तथा सदाचारी पात्र के लिए कई बार दान दे दिया हो, कठिन तपस्याओं का संचय किया हो, चिरकाल तक अनेक पूजाएँ की हों और निर्मल गुणों के साथ शीलव्रतों के धारण करने का फल ही प्राप्त कर लिया हो।

शार्दूलविक्रीडित

प्रज्ञा-पारमितः स एव भगवान् पारं स एवं श्रुत-
स्कन्धाब्धेर्गुणरत्नभूषण इति, श्लाघयः स एव ध्रुवम्।
नीयन्ते जिन येन कर्ण-हृदयाल कारता त्वद्गुणाः,
संसाराहि-विषापहारमणयस्त्रैलोक्य-चूडामणे ॥७॥

अन्वयार्थ : त्रैलोक्य – हे त्रिभुवन के, चूडामणे – चूडामणि स्वरूप, जिन – जिनेन्द्र देव, संसार – संसार रूपी, अहि – साँप के, विष – विष को, अपहार – हरने के लिए, मणयः – मणि स्वरूप, तद्गुणाः – आपके गुण, येन – जिसके द्वारा, कर्ण – कान तथा, हृदय – मन के, अलंकारताम् – आभूषणपने को, नीयन्ते – प्राप्त, कराये – जाते हैं, ध्रुवम् – निश्चय से, सः एव – वही, प्रज्ञापारम् इतः – बुद्धि के पार को प्राप्त हुआ, भगवान् – ऐश्वर्यवान है, सः एव श्रुतस्कन्धाब्धेः पारम – वही शास्त्र समुद्र का अन्तिम तट है और, सः एव – वही गुण रत्न, भूषणः – गुणरूपी रत्न ही हैं, आभूषण जिसके, इति – इस तरह, श्लाघयः – प्रशंसनीय है।

अर्थ : हे त्रिभुवन के चूडामणि स्वरूप जिनेन्द्र देव! संसार रूपी साँप के विष को हरने के लिए मणि स्वरूप आपके गुणों को सुनकर हृदय में धारण करता है, वही वास्तव में बुद्धिमान है, ऐश्वर्यवान् है, वही शास्त्र समुद्र का अन्तिम तट है अर्थात् ज्ञानवान है और वही गुणरूपी रत्नों से सुशोभित है।

मालिनी

जयति दिविज-वृन्दान्दोलितैरिन्दुरोचि-

र्निचय-रुचिभिरुच्चैश्चामरैर्वीज्यमानः।

जिनपतिरनुरज्यन्मुक्तिसाम्राज्य-लक्ष्मी-

युवति-नव कटाक्ष-क्षेप-लीलां दधानैः॥१८॥

अन्वयार्थ : दिविजवृन्द - देव समूह के द्वारा, आन्दोलितैः - संचालित, इन्दु - चन्द्रमा की, रोचिर्निचय - किरण समूह के समान, रुचिभिः - उज्ज्वल कान्ति के धारी तथा, अनुरज्यन् - अनुराग करने वाली, मुक्ति - मोक्ष नगर की, साम्राज्यलक्ष्मी - राज्य लक्ष्मी रूप, युवति - तरुण स्त्री के, नव - नूतन, कटाक्ष - संचार की, क्षेपलीलाम् - शोभा को, दधानैः - धारण किये हुए, उच्चैः - उन्नत, चामरैः - चँवरों के द्वारा, वीज्यमानः - ढोरे जाने वाले, जिनपतिः - जिनेन्द्र भगवान्, जयति - जयवन्त है। सबसे उत्कृष्ट है।

अर्थ : हे भगवन्! आपके दोनों ओर देवगण जो सफेद चँवर ढोर रहे हैं, वे चँवर आपमें आसक्त हुई मुक्ति की राज्यलक्ष्मी रूप स्त्री के सफेद कटाक्षों की तरह शोभायमान होते हैं। उन चँवरों से आप संसार में सर्वश्रेष्ठ मालूम होते हैं।

स्रग्धरा

देवः श्वेतातपत्र-त्रय-चमरिरुहाडशोक-भाश्चक्र-भाषा-

पुष्पौघासार-सिंहासन-सुरपटहैरष्यभिः प्रातिहार्यैः।

साश्चर्यैर्भ्राजिमानः सुर-मनुज-सभाम्भोजिनी-भानुमाली,

पायान्नः पादपीठीकृत-सकल जगत्पाल-मौलि जिनेन्द्र॥१९॥

अर्थ : साश्चर्यैः - आश्चर्य युक्त, श्वेत - सफेद, आतपत्रत्रय - छत्रत्रय, चमरि - चँवर, रुहाशोक - अशोकवृक्ष, भाश्चक्र - भामण्डल, भाषा - दिव्यध्वनि, पुष्पौघासार - पुष्प-समूह की वृष्टि, सिंहासन - सिंहासन और, सुरपट हैः - देवदुन्दुभिरूप, अष्टभिः - आठ, प्रातिहार्यैः - प्रातिहार्यों के द्वारा, भ्राजमानः - शोभायमान, सुर - देव और, मनुज - मनुष्यों की, सभाम्भोजिनी - सभा को विकसित करने के लिए,

भानुमाली – सूर्य तथा, सकल – जिन्होंने सब, जगत्पाल – राजाओं के, मौलिः – मुकुटों को, पादपीठीकृत – अपने पाँवों का, पीठ – आसन बनाया है ऐसे, जिनेन्द्रः – जिनेन्द्रदेव, नः पायात् – हम सबकी रक्षा करें।

अर्थ : जो छत्रत्रय, चँवर, अशोक वृक्ष, भामण्डल, दिव्यध्वनि, पुष्पवृष्टि, सिंहासन और देवदुन्दुभि रूप आठ प्रातिहार्यों से शोभायमान हैं, जो मनुष्य और देवों की सभा को हर्षित करते हैं तथा जिनके चरणों में जग के सब राजा अपना मस्तक झुकाते हैं, वे जिनेन्द्र देव हमारी रक्षा करें।

स्रग्धरा

नृत्यत्स्वर्दन्ति-दन्ताम्बुरुह-वन-नटन्नाक-नारी-निकायः,
सद्यस्त्रैलोक्य-यात्रोत्सव-कर-निनदातोद्यमाद्यन्निलिम्पः।
हस्ताम्भोजात-लीला विनिहित सुमनोदाम-रम्यामर स्त्री-
काम्यः कल्याण-पूजाविधिषु विजयते देव देवागमस्ते॥10॥

अन्वयार्थ : देव – हे देव!, ते – आपके, कल्याण – पंच कल्याणकों के, पूजाविधिषु – पूजा कार्य में, नृत्यत् – नृत्य करते हुए, स्वर्दन्तिदन्त – ऐरावत हाथी के दाँतों पर स्थित, अम्बुरुह – कमल, वन – वन में, नटन् – नृत्य कर रहा है, नाकनारी – देवांगनाओं का, निकायः समूह जिसमें ऐसा, सद्यः – शीघ्र ही, त्रैलोक्य – त्रिभुवन में, यात्रा – यात्रा के, उत्सव – उत्सव को, कर – करने वाली है, निनदा – ध्वनि जिसकी ऐसे, तोद्यमाद्यन् – बाजों से हर्षित हो रहे हैं, निलिम्पः – देव जिसमें ऐसा, तथा, हस्ताम्भोजात् – हस्तकमलों से, लीला – क्रीड़ापूर्वक, विनिहित – धारण की गई, सुमनोदाम – फूलों की मालाओं से, रम्या – रमणीय, अमरस्त्री – देवियों के द्वारा, काम्यः – सुन्दर, देवागमः – देवागम, विजयते – जयन्त है/सर्वोत्कृष्ट है।

अर्थ : हे भगवन्! आपके पंच कल्याणकों के पूजा कार्य में नृत्य करते हुए ऐरावत हाथी के दाँतों पर स्थित कमल वन में नृत्य कर रहा है, देवांगनाओं का समूह जिसमें ऐसा, शीघ्र ही तीनों-लोकों में यात्रा के उत्सव को करने वाली है ध्वनि जिसकी ऐसे बाजों से हर्षित हो रहे हैं देव जिसमें ऐसा, तथा हस्तकमलों के द्वारा क्रीड़ा पूर्वक धारण की गई फूलों की

मालाओं से रमणीय देवियों के द्वारा सुन्दर देवों का आगमन जयवन्त है। सर्वोत्कृष्ट है।

शार्दूलविक्रीडित

चक्षुष्मानहमेव देव भुवने नेत्रामृत-स्यन्दिनं,
त्वद्वक्त्रेन्दुमति प्रसाद-सुभगैस्तेजोभिरुद्भासितम्।
येनालोकयता मयानति-चिराच्चक्षुः कृतार्थीकृतं,
द्रष्टव्यावधिवीक्षण-व्यतिकर-व्याजृम्भमाणोत्सवम्॥11॥

अन्वयार्थ : देव - हे देव!, येन - जिस कारण से, नेत्र - आँखों में, अमृत - अमृत, स्यन्दिनम् - झराने वाले तथा, अतिप्रसाद - अत्यन्त प्रसन्नता से, सुभगैः - सुन्दर, तेजोभिः - तेज के द्वारा, उद्भासितम् - शोभायमान, त्वद् - आपके, वक्त्र - मुख, इन्दुम् - चन्द्र को, आलोकयता - देखते हुए, मया - मैंने, द्रष्टव्य - दर्शनीय वस्तुओं की, अवधि - सीमा के, वीक्षण - देखने रूप, व्यतिकर - व्यापार से, व्याजृम्भमाण - बढ़ रहा है, उत्सवम् - उत्सव जिनका ऐसी, चक्षुः - आँखों को, अनतिचिरात् - शीघ्र ही, कृतार्थीकृतम् - कृतार्थ किया है, तेन - उस कारण से, भुवने - संसार में, अहम् एव - मैं ही, चक्षुष्मान् अस्मि - नेत्रवान् हूँ।

अर्थ : हे भगवन्! आँखों में अमृत झराने वाले तथा अत्यन्त प्रसन्नता से सुन्दर तेज के द्वारा शोभायमान आपके मुखचन्द्र को देखते हुए मैंने दर्शनीय वस्तुओं की अवधि के देखने मात्र से बढ़ रहा है उत्सव जिनका ऐसी आँखों को शीघ्र ही कृतार्थ किया है, उस कारण से संसार 'में, मैं ही नेत्रवान् हूँ अर्थात् आपके दर्शन करने वालों के नेत्र ही सफल हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं।

वसन्ततिलका

कन्तोः सकान्तमपि मल्लमवैति कश्चित्-
मुग्धो मुकुन्दमरविन्दज-मिन्दुमौलिम्!
मोधीकृत - त्रिदश - योषिदपाङ्गपात-
स्तस्य त्वमेव विजयी जिनराज मल्लः॥12॥

अन्वयार्थ : जिनराज - हे जिनेन्द्र!, कश्चित् मुग्धः - कोई मूर्ख, कन्तोः -

कामदेव के विषय में, मुकुन्दम् – श्री कृष्ण, अरविन्दजम् – ब्रह्मा और, इन्दुमौलिम् – महादेव को, सकान्तम् अपि – स्त्रियों से सहित होने पर भी, मल्लम् – मल्ल अवैति – मानता है किन्तु, मोधीकृत – व्यर्थ कर दिया है, त्रिदशयोषिद् – देवांगनाओं का, अपाङ्गपातः – कटाक्षपात जिनने ऐसे, त्वम् एव – आप ही, तस्य – उस काम के, विजयी – जीतने वाले, मल्लः – शूरवीर हैं।

अर्थ : हे भगवान्! कोई अज्ञानी जीव कहते हैं कि श्रीकृष्ण ने काम को जीता था, कोई कहते हैं कि ब्रह्मा ने जीता था और कोई कहते हैं कि महादेव ने जीता था, पर उनका यह कहना मिथ्या है, क्योंकि ये तीनों ही देवता देव अवस्था में भी स्त्रियों से सहित थे। जो काम को जीत लेता है, काम-विकार से रहित होता है; उसे स्त्री रखने की क्या आवश्यकता? परन्तु आपके ऊपर मनुष्य-स्त्रियों की क्या बात, देवांगनाएँ भी अपना असर न डाल सकीं, इसलिए कामदेव के सच्चे विजेता आप ही हैं।

मालिनी

किसलयित मनल्पं त्वद्विलोकाभिलाषात्,
कुसुमितमतिसान्द्रं त्वत्समीप-प्रयाणात्।
मम फलितममन्दं त्वन्मुखेन्दोरिदानी,
नयन-पथमवाप्ताद्वेव! पुण्यद्रुमेण॥13॥

अन्वयार्थ : देव – हे देव!, मम – मेरा, पुण्यद्रुमेण – पुण्य रूपी वृक्ष, त्वद् – आपके, विलोक – दर्शन करने की, अभिलाषात् – इच्छा से, अनल्पम् – अत्यधिक, किसलयितम् पल्लवों से – व्याप्त हुआ था, त्वत् – आपके, समीप – पास, प्रयाणात् – जाने से, अतिसान्द्रम् – अतिसघन कुसुमितम् – फूलों से व्याप्त हुआ और, इदानीम् – इस समय, त्वन्मुखेन्दोः – आपके मुख-चन्द्रमा से, अमन्दम् – अत्यन्त, फलितम् – फलों से, व्याप्त – हुआ है।

अर्थ : हे भगवन्! आपके दर्शन करने की इच्छा से पुण्यरूपी वृक्ष लहलहा उठता था। आपके पास जाने से उसमें फूल लग जाते हैं और आपका साक्षात् दर्शन पा लेने पर उसमें फल लग जाते हैं। आपका दर्शन अत्यन्त पुण्य का कारण है।

मालिनी

त्रिभुवन-वन-पुष्यत्पुष्प-कोदण्ड-दर्प-
प्रसर-दव-नवाम्भो-मुक्तिसूक्ति-प्रसूतिः।
स जयति जिनराज-व्रात-जीमूत-संघः,
शतमख-शिखि-नृत्यारम्भ-निर्बन्ध-बन्धु॥14॥

अन्वयार्थ : त्रिभुवन - तीन लोकरूपी, वन - वन में, पुष्यत् - बढ़ते हुए, पुष्पकोदण्ड - कामदेव सम्बन्धी, दर्पप्रसर - अहंकार के प्रसार रूपी, दव - दावानल को बुझाने के लिए, नवाम्भोमुक्ति - नूतन जलवृष्टि रूप, सूक्तिप्रसूतिः - सुन्दर उपदेश की है उत्पत्ति जिससे ऐसे, तथा, शतमख - इन्द्ररूपी, शिखि - मयूर के, नृत्यारम्भ - नृत्य प्रारम्भ करने में, निर्बन्धबन्धुः - आग्रहकारी, बन्धुस्वरूप सः - वह जिनराज, व्रातजीमूतसङ्ग - जिनेन्द्र समूह रूप मेघों का समुदाय, जयति - जयवन्त है अर्थात् सबसे उत्कृष्ट है।

अर्थ : जिनका उपदेश तीन लोक रूपी वन में बढ़ते हुए कामदेव सम्बन्धी अहंकार के प्रसार रूपी दावानल को बुझाने के लिए नूतन जल-धारा के समान है और इन्द्ररूपी मयूर के नृत्यारम्भ करने में आग्रहकारी बन्धुस्वरूप है अर्थात् जिनके सामने स्वर्ग का इन्द्र मनोहर नृत्य करता है, वे जिनेन्द्र भगवान संसार में सबसे श्रेष्ठ हैं।

स्रग्धरा

भूपाल-स्वर्ग-पाल-प्रमुख-नर-सुर-श्रेणि-नेत्रालिमाला-
लीला-चैत्यस्य चैत्यालय मखिल जगत्कौमुदीन्दो जिनस्य
उत्तंसीभूत-सेवाञ्जलि-पुट-नलिनी-कुड्मलस्त्रिः परीत्य,
श्री पाद-च्छाययापस्थित भवदवधुः संश्रितोऽस्मीव मुक्तिम्॥15॥

अन्वयार्थ : भूपाल - चक्रवर्ती और, स्वर्गपाल - इन्द्र हैं, प्रमुख - प्रधान जिनमें ऐसे, नरसुर - मनुष्य और देव, श्रेणि - समूह के, नेत्र - नेत्ररूपी, अलि - भ्रमर, माला - पंक्ति की, लीला - क्रीड़ा के लिए, चैत्यस्य - चैत्यवृक्ष तथा, अखिल - सम्पूर्ण, जगत् - संसार रूप, कौमुदीन्दोः - कुमुद समूह के लिए चन्द्रमा स्वरूप, जिनस्य

– जिनेन्द्र देव के, चैत्यालयम् – मंदिर की, त्रिःपरीत्य – तीन प्रदक्षिण देकर, उत्तंसीभूत – आभरणरूप किया है, सेवांजलि – सेवा से वह, अञ्जलि – पुटरूप, नलिनी – कमलिनी के, कुड्मलः – मुकुल वौंडी – कली जिसने ऐसा तथा, श्री पादच्छायया – आपके श्री चरण की छाया के द्वारा, अपस्थित – दूर हो गया है, भव – संसार का, दवथुः सन्ताप जिसका ऐसा मैं, मुक्ति इव संश्रितः अस्मि – मानो मुक्ति को ही प्राप्त हो गया हूँ।

अर्थ : हे भगवन्! चक्रवर्ती और इन्द्र हैं प्रधान जिनमें, ऐसे मनुष्य और देव समूह के नेत्ररूपी भ्रमर पंक्ति की क्रीड़ा के लिए चैत्यवृक्ष के समान है तथा सम्पूर्ण संसाररूप कुमुद समूह के लिए चन्द्रमा स्वरूप जिनेन्द्र भगवान् के मन्दिर की तीन परिक्रमा देकर जब आपके चरणों के समीप हाथ जोड़कर बैठता हूँ, तब मुझे जो आनन्द होता है, उससे मैं समझने लगता हूँ कि मैं अब मुक्ति को ही प्राप्त हो गया हूँ।

वसन्ततिलका

देव त्वदङ्घ्रि-नख-मण्डल-दर्पणेऽस्मि-

न्नघर्ये निसर्ग-रुचिरे चिर-दृष्ट-वक्त्रः।

श्री कीर्ति-कान्ति-धृति-संगम-कारणानि,

भव्यो न कानि लभते शुभ-मंगलानि॥16॥

अन्वयार्थ : देव – हे देव!, अघर्ये – प्रशंसनीय और, निसर्ग – स्वभाव से, रुचिरे – सुन्दर अस्मिन् – इस, त्वत् – आपके, अङ्घ्रिनखमण्डल – नखमण्डलरूपी, दर्पणे – दर्पण में, चिर – बहुत समय तक, दृष्ट – देखा है, वक्त्रः – मुख जिसने ऐसा, भव्यः – भव्यजीव, श्री – लक्ष्मी, कीर्ति – यश, कान्ति – कान्ति और, धृति – धीरज की, संगम – प्राप्ति के, कारणानि – कारण स्वरूप, कानि – किन, शुभ – शुभ, मंगलानि – मंगलों को, न लभते – नहीं प्राप्त होता? अर्थात् सभी को प्राप्त होता है।

अर्थ : हे भगवन्! प्रशंसनीय और स्वभाव से सुन्दर आपके इस नखमण्डलरूपी दर्पण में बहुत समय तक देखा है मुख जिसने – ऐसा भव्य जीव लक्ष्मी, यश, कान्ति और धीरज की प्राप्ति के कारण स्वरूप किन शुभ मंगलों को प्राप्त नहीं होता? अर्थात् जो आपके चरणों में नमस्कार करता है, वह हर एक तरह के मंगलों को प्राप्त होता है। लोक में दर्पण में मुख देखना मंगल का कारण माना जाता है।

मालिनी

जयति सुर-नरेन्द्र-श्री सुधा-निर्झरिण्याः,
कुलधरणि-धरोऽयं जैन-चैत्याभिरामः।
प्रविपुल-फल-धर्मानोकहाग्र-प्रवाल-
प्रसर-शिखर-शुम्भत्केतनः श्री निकेतः॥17॥

अन्वयार्थ : सुर - देवेन्द्र और, नरेन्द्र - राजाओं की, लक्ष्मीरूप - लक्ष्मीरूप, सुधा-निर्झरिण्याः - अमृत के झरनों की उत्पत्ति के लिए, कुलधरणिधरः - कुलाचल, तथा प्रविपुल - अत्यधिक, फल - फल वाले, धर्मानोकहाग्र - धर्मरूप वृक्ष के अग्रभाग पर स्थित, प्रवाल - किसलय, प्रसर - समूह की, शिखर - शिखर की तरह, शुम्भत् - शोभायमान है, केतनः - पताका जिस पर ऐसा तथा, श्री निकेतनः - लक्ष्मी के गृहस्वरूप, अयम् - यह जैन, चैत्याभिरामः - जिनेन्द्र देव का चैत्यालय, जयति - जयवन्त है। सबसे उत्कृष्ट है।

अर्थ : हे भगवन्! आपका वह मन्दिर संसार में सबसे उत्कृष्ट है, जिसमें भक्तिपूर्वक जाने से देवेन्द्र तथा राजा-महाराजाओं की लक्ष्मीरूप अमृत के झरनों की उत्पत्ति होती है अर्थात् प्राप्त होती है तथा अत्यधिक फल वाले/धर्म वाले वृक्ष के अग्रभाग पर स्थित किसलय समूह की शिखर ही है शोभायमान पताका जिस पर अर्थात् जिस पर मनोहर पताका फहरा रही है और जो लक्ष्मी का घर है।

मालिनी

विनमदमरकान्ता-कुन्तलाक्रान्त-कान्ति-
स्फुरित-नख-मयूख-द्योतिताशाऽन्तरालः।
दिविज-मनुज राज-व्रात-पूज्य-क्रमाब्जो,
जयति विजित-कर्मारति-जालो-जिनेन्द्रः॥18॥

अन्वयार्थ : विनमत् - नमस्कार करती हुई, अमरकान्ता - देवांगनाओं के, कुन्तल - कोशों से, आक्रान्त - प्रतिबिम्बित, कान्ति कान्ति से, स्फुरित - शोभायमान, नख - नखचन्द्र की, मयूख - किरणों से, द्योतिताशान्तरालः - प्रकाशित कर दिया है

दिशाओं का मध्य भाग जिनने ऐसे तथा, दिविज - देव और, मनुज - मनुष्यों के, राजव्रात - राजसमूह से, पूज्य - पूजने योग्य है, क्रमाब्ज - चरण-कमल जिनके ऐसे और, विजित - जीत लिया है, कर्म - कर्म रूपी, आराति - शत्रुओं का, जालः - समूह जिनने ऐसे, जिनेन्द्रः - जिनेन्द्र देव, जयति जयवन्त है। सर्वोत्कृष्ट रूप से वर्तमान है।

अर्थ : नमस्कार करती हुई देवांगनाओं के केशों से प्रतिबिम्बित कान्ति से शोभायमान नखचन्द्र की किरणों से प्रकाशित कर दिया है दिशाओं का मध्य भाग जिनने ऐसे, तथा देव-मनुष्यों के राजसमूह से पूजने योग्य हैं चरण-कमल जिनके ऐसे और जीत लिया कर्मरूपी शत्रुओं का समूह जिनने - ऐसे जिनेन्द्र देव ही सबसे उत्कृष्ट हैं।

वसन्ततिलका

सुप्तोत्थितेन सुमुखेन सुमंगलाय,
द्रष्टव्यमस्ति यदि मंगलमेव वस्तु।
अन्येन किं तदिह नाथ तदैव वक्त्रं,
त्रैलोक्यमंगलनिकेतनमीक्षणीयम्॥19॥

अन्वयार्थ : नाथ - हे स्वामिन्!, सुप्त - सोकर, उत्थितेन - उठे हुए, सुमुखेन - सुन्दर मुख वाले पुरुष के द्वारा, सुमंगलाय - कल्याण की प्राप्ति के लिए यदि, मंगलम् एव वस्तु दृष्टव्यम् अस्ति - यदि मंगल रूप ही वस्तु देखी जानी चाहिए, तत् - तो, अन्येन किम् - और से क्या?, त्रैलोक्य - तीनों-लोकों के, मंगल - मंगलों के, निकेतनम् - घर स्वरूप, तव वक्त्रम् एव - आपका मुख ही, ईक्षणीयम् - देखना चाहिए।

अर्थ : हे स्वामिन्! सोकर उठे हुए सुन्दर मुख वाले पुरुष के द्वारा कल्याण की प्राप्ति के लिए यदि मंगलरूप ही वस्तु देखी जानी चाहिए तो आपका मुख ही देखना चाहिए।

शार्दूलविक्रीडित

त्वं धर्मोदय-तापसाश्रम-शुकस्त्वं काव्य-बन्ध-क्रम-
क्रीडानन्दन-कोकिलस्त्वमुचितः श्री मल्लिका-षट्पदः।
त्वं पुन्नाग-कथारविन्द-सरसी-हंसस्त्वमुत्तंसकैः,
कैर्भूपाल न धार्य से गुण-मणि-स्रङ् मालिभिर्माँलिभिः॥20॥

अन्वयार्थ : भूपाल - हे जगत्पालक!, त्वम् - आप, धर्मोदय - धर्म के अभ्युदयरूपी, तापसाश्रम - तपोवन के, शुकः - तोता है, त्वम् - आप, काव्यबन्ध - काव्य रचना की, क्रमक्रीडा - क्रम क्रीड़ा रूप, नन्दन - नन्दनवन के, कोकिलः - कोकिल हैं, त्वम् - आप, पुन्नाग - श्रेष्ठ पुरुषों की, कथा - कथारूपी, अरविन्द - कमल, सरसी - सरोवर के, हंसः - हंस हैं और, त्वम् - आप, उत्तसकैः - अपने आपको भूषित करने, सजाने वाले, कैः - किन पुरुषों के द्वारा, गुण - गुणरूप, मणि - मणियों की, स्रङ् - माला के, मालिभिः समूह से उपलक्षित, मौलिभिः - मुकुटों के द्वारा, नः धार्यसे - धारण नहीं किये जाते? अर्थात् सभी के द्वारा धारण किये जाते हैं।

अर्थ : हे भगवन्! जिस प्रकार तोता तपोवन की शोभा बढ़ाता है, उसी प्रकार आप भी धर्म के उदय की शोभा बढ़ाते हैं। जिस प्रकार कोयल अपनी मीठी आवाज से नन्दन वन की शोभा बढ़ा देती है, उसी प्रकार आप भी अपने चरित्र से काव्य रचना की शोभा बढ़ा देते हैं अर्थात् जिस काव्य-रचना में आपका चरित्र लिखा जाता है, वह बहुत सुन्दर हो जाती है। जिस प्रकार भौरा मालती के फूलों का रसास्वाद करता है, उसी प्रकार आप भी अनन्त चतुष्टय रूपी लक्ष्मी का रसास्वाद करते हैं। जिस प्रकार हंस कमलों के वन की शोभा बढ़ाता है, उसी तरह आप भी श्रेष्ठ पुरुषों की कथाओं की शोभा बढ़ाते हैं। और जिस प्रकार अपने आपको अलंकृत करने वाले पुरुष मालाओं से शोभायमान मुकुटों को अपने सिर पर धारण करते हैं, उसी प्रकार अपने आपको उत्तम बनाने वाले मनुष्य आपको अपने मस्तक से धारण करते हैं अर्थात् सिर झुकाकर प्रणाम करते हैं।

मालिनी

शिव-सुखमजर-श्री-संगम चालिभष्य,
स्वमभिनियमयन्ति क्लेश-पाशेन केचित्।
वयमिह तु वचस्ते भूपते-र्भावयन्त-
स्तदुभयमपि शश्वल्लीलया निर्विशामः॥२१॥

अन्वयार्थ : केचित् - कितने ही मनुष्य, शिवसुख - मोक्ष सुख, च - और, अजरश्री - देवों की लक्ष्मी के, संगमम् - संगम को, अभिलष्य - चाहकर, स्वम् अभि

– अपने आप को, क्लेश – दुःखों के, पाशेन – समूह से, नियमयन्ति – नियमित करते हैं अर्थात् तरह-तरह की तपस्याओं और व्रत आदि के कठिन नियमों से अपने आपको दुःखी करते हैं, तु – किन्तु, वयम् – हम लोग, शाश्वत – हमेशा, इह – इस संसार में, ते भूपते: – आप जगपालक के, वचः भावयन्तः – वचनों की भावना करते हुए, लीलया – अनायास ही, तदुभयम् अपि – उन दोनों अर्थात् मोक्ष और स्वर्ग को, निर्विशामः – प्राप्त हो जाते हैं।

अर्थ : हे प्रभो! जो मनुष्य आपके सिद्धान्तों से परिचित नहीं हैं, वे स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति के लिए तरह-तरह के नियम करते हैं, कठिन तपस्याओं के क्लेश उठाते हैं; फिर भी उन्हें प्राप्त नहीं कर पाते, पर हम लोग आपके उपदेश का रहस्य समझकर अनायास ही उन दोनों को प्राप्त कर लेते हैं। आपके वचनों की महिमा अपार है।

शार्दूलविक्रीडित

देवेन्द्रास्तव मज्जनानि विदधुर्देवांगना मंगला-
न्यापेठुः शरदिन्दु-निर्मल-यशो गन्धर्वदेवा जगुः।
शेषाश्चापि यथानियोगमखिलाः सेवां सुराश्चक्रिरे,
तत्किं देव वयं विदध्म इति नश्चित्तं तु दोलायते॥22॥

अन्वयार्थ : देव – हे देव!, देवेन्द्राः – इन्द्रों ने, तव – आपका, मज्जनानि – अभिषेक, विदधुः – किया, देवांगना – देवांगनाओं ने, मंगलानि – मंगल पाठ, आपेठुः – पढ़े, गन्धर्वदेवाः – गन्धर्व देवों ने, शरत् – शरद-ऋतु के, इन्दु – चन्द्रमा की तरह, निर्मल – उज्ज्वल, यशः – यश, जगुः – गाया, च – और, शेषाः – बाकी बचे हुए, अखिलाः – समस्त, सुराः – देवों ने, यथानियोगम् – अपने कर्तव्य के अनुसार, सेवाम् – सेवा, चक्रिरे – की, तत् – अब, देव वयं – हम लोग, तु किं – क्या, विदध्मः करें? इति – इस प्रकार, नः – हमारा, चित्तम् – मन, दोलायते – चंचल हो रहा है।

अर्थ : हे देव! इन्द्रों ने आपका अभिषेक किया, देवांगनाओं ने मंगल पाठ पढ़े, गन्धर्व देवों ने शरद् ऋतु के चन्द्रमा की तरह उज्ज्वल यश गाथा और बाकी बचे हुए

समस्त देवों ने अपने कर्तव्य के अनुसार सेवा की। अब हम लोग क्या करें? इस प्रकार हमारा मन चंचल हो रहा है।

शार्दूलविक्रीडित

देव त्वज्जननाभिषेक-समये रोमाञ्च-सत्कञ्चुकै-
 देवेन्द्रैर्यदनर्ति नर्तनविधौ लब्ध-प्रभावैः स्फुटम्।
 किञ्चान्यत्सुर-सुन्दरी कुच-तट-प्रान्तावनद्धोत्तम-
 प्रेङ्खद्वल्लकि-नाद-झङ्कृतमहो तत्केन संवर्ण्यते॥23॥

अन्वयार्थ : देव - हे देव!, त्वत् - आपके, जनन - जन्म के, अभिषेक - अभिषेक के, समय - समय, नर्तन - नृत्य, विधौ - कार्य में, लब्ध - प्राप्त किया है। प्रभावैः - प्रभाव जिन्होंने ऐसे, देवेन्द्रैः इन्द्रों ने, रोमाञ्च रोमांचरूप, सत्कञ्चुकैः - कंचुक वस्त्रों को धारण करते हुए, यत् स्फुटम् अनर्ति - जो स्पष्ट नृत्य किया गया था, किं न अन्यत् - और जो, सुरसुन्दरी - देवांगनाओं के, कुचतट - स्तन तट के, प्रान्तावनद्ध समीप बँधी हुई, उत्तम - उत्तम, प्रेङ्खद्वल्लकि - शब्द करती हुई वीणा के, नाद - शब्द की, झङ्कृतम् - झंकार हुई थी, अहो! तत् केन वर्ण्यते - आश्चर्य है! कि उस सबका वर्णन किससे हो सकता है? अर्थात् किसी से नहीं।

अर्थ : हे भगवन्! आपके जन्माभिषेक के समय, नृत्य कार्य में प्राप्त किया है प्रभाव जिन्होंने, ऐसे इन्द्रों ने रोमांच रूप कंचुक वस्त्र को धारण करते हुए जो स्पष्ट नृत्य किया था और देवांगनाओं ने वीणा बजाई थी, आश्चर्य है कि उसका वर्णन कोई नहीं कर सकता।

शार्दूलविक्रीडित

देव त्वत्प्रतिबिम्बमम्बुज-दलस्मेरेक्षणं पश्यतां,
 यत्रास्माकमहो महोत्सव-रसो दृष्टेरियान्वर्तते।
 साक्षात्तत्र भवन्तमीक्षितवतां कल्याण-काले तदा,
 देवानामनिमेष-लोचनतया वृत्तः स किं वर्ण्यते॥24॥

अन्वयार्थ : देव हे देव! अम्बुज - कमल की, दलस्मेर - पाँखुड़ी की तरह

विकसित है, ईक्षणम् - नेत्र जिसमें ऐसे, त्वत् - आपके, प्रतिबिम्बम् - प्रतिबिम्ब प्रतिमा का, पश्यताम् - देखने वाले, अस्माकम् - हम लोगों की, दृष्टे - आँखों को, यत्र - जहाँ, अहो - आश्चर्य-कारक, इयान् - इतना, महोत्सवरसः - महान आनन्द, वर्तते - हो रहा है, तत्र - वहाँ, तदा - उस समय, कल्याणकाले - पंच कल्याणकों के काल में, अनिमेष - टिमकार रहित, लोचनतया - नेत्रों से, भवन्तम् - देवों के, वृत्तः - प्रकट हुआ, सः - वह आनन्द, किम् - क्या, वर्ण्यते - वर्णित किया जा सकता है अर्थात् नहीं किया जा सकता।

अर्थ : हे देव! कमल की पाँखुड़ी की तरह विकसित हैं नेत्र जिसमें, ऐसे आपके प्रतिबिम्ब/प्रतिमा को देखने वाले हम लोगों की आँखों को जहाँ आश्चर्यकारक इतना महान आनन्द हो रहा है, वहाँ उस समय पंच कल्याणकों के काल में अपलक देखने वाले देवों के प्रकट हुआ, वह आनन्द क्या वर्णन किया जा सकता है अर्थात् नहीं किया जा सकता।

शार्दूलविक्रीडित

दृष्टं धाम रसायनस्य महता दृष्टं निधीनां पदं,
दृष्टं सिद्ध-रसस्य सद्य सदनं दृष्टं च चिन्तामणेः
किं दृष्टैरथवानुषंगिक-फलैरेभिर्मयाद्य ध्रुवं,
दृष्टं मुक्ति-विवाह-मंगल-गृहं दृष्टे जिन-श्री-गृहे॥25॥

अन्वयार्थ : जिनश्रीगृहे - जिन मंदिर अथवा, जिनेन्द्ररूप - लक्ष्मीगृह के दृष्टे, सति - देखे जाने पर, मया - मैंने, रसायनस्य - रसायन का, धाम - घर, दृष्टम् - देख लिया, महतां - बड़ी-बड़ी, निधिनाम् - निधियों का, पदं - स्थान, दृष्टम् - देख लिया, सिद्धरसस्य - सिद्ध हुए रस औषधि विशेष का, सद्य - घर, दृष्टम् - देख लिया, च - और, चिन्तामणेः - चिन्तामणि रत्न का, सदनम् - घर, दृष्टम् - देख लिया, अथवा - अथवा, दृष्टैः - देखे हुए, एभिः - इन, आनुषाङ्गिक-गौणफलैः - फलों से, किम् - क्या लाभ हैं? ध्रुवम् - निश्चय से, अद्य - आज, मया - मैंने, मुक्ति - मुक्ति रूपी कन्या के, विवाह विवाह, मंगल - मंगल का, गृहम् - घर देख लिया है।

अर्थ : हे भगवन्! जिन मन्दिर अथवा जिनेन्द्र रूप लक्ष्मी-गृह के देखे जाने पर मैंने

रसायन का घर देख लिया, बड़ी-बड़ी निधियों का स्थान देख लिया, सिद्ध हुए रस-औषधि विशेष का घर देख लिया और चिन्तामणि रत्न का घर देख लिया। अथवा देखे हुए इन गौण फलों से क्या लाभ है? निश्चय से आज मैंने साक्षात् मुक्ति रूपी कन्या के मंगल विवाह का घर देख लिया है।

शार्दूलविक्रीडित

दृष्टस्त्वं जिनराज-चन्द्र विकसद् भूपेन्द्र-नेत्रोत्पले,
स्नातं त्वन्नुति-चन्द्रिकाभसि भवद् विद्वच्चकोरोत्सवे,
नीतश्चाद्य निदाद्यजः क्लमभरः शान्तिं मया गम्यते,
देव त्वद्गत-चेतसैव भवतो भूयात् पुनर्दर्शनम्॥26॥

अन्वयार्थ : जिनराजचन्द्र - हे जिनचन्द्र!, मया त्वम् दृष्टः - मैंने आपके दर्शन किये तथा, भूपेन्द्र - जिसमें राजाओं के, नेत्रोत्पले - नेत्र रूपी कुमुद, विकसद् - फूल रहे हैं ऐसे तथा, भवद् विद्वत् - जिसमें विद्वानरूप, चकोर - चकोर पक्षियों को, उत्सवे - आनन्द हो रहा है ऐसे, त्वत् - आपकी, नुति - स्तुतिरूप, चन्द्रिकाभसि - शीतल जल में, स्नानम् - स्नान किया, च - और, अद्य - आज, निदाद्यजः - सन्ताप से उत्पन्न हुआ, क्लमभरः - खेद का समूह, शान्तिम् - शान्ति को, नीतः - प्राप्त कराया, देव - हे देव!, मया - अब मैं, त्वद्गत एव - आप में ही, चेतसा - चित्त लगाता हुआ, गम्यते जाता हूँ, भवतः आपके, दर्शनं - दर्शन, पुनः भूयात् - फिर भी हों।

अर्थ : हे जिनेन्द्ररूपी चन्द्र! मैंने आपके दर्शन किये तथा जिसमें राजाओं के नेत्ररूपी कुमुद फूल रहे हैं - ऐसे तथा जिसमें विद्वान रूप-चकोर पक्षियों को आनन्द हो रहा है - ऐसे आपकी स्तुति रूप जल में स्नान किया और आज सन्ताप से उत्पन्न हुआ खेद का समूह शान्ति को प्राप्त कराया है। हे देव! अब मैं जाता हूँ, पर मेरा चित्त, आप में ही लग रहा है। मैं प्रार्थना करता हूँ कि मुझे आपके दर्शन फिर पुनः-पुनः प्राप्त हों।

॥ इति श्री जिनचतुर्विंशतिका-स्तोत्रम् ॥

24. श्री अकलंकस्तोत्रम्

त्रैलोक्यं सकलं त्रिकालविषयं, सालोकमालोकितम्,
साक्षाद्येन यथा स्वयं करतले, रेखात्रयं साङ्गुली ।
रागद्वेष भयामयान्तक-जरा-, लोलत्वलोभादयो,
नालं यत्पदलंघनाय स महा-, देवो मया वन्द्यते ॥1॥

अन्वयार्थ : येन जिनके द्वारा, साङ्गुली - अंगुलियों के साथ, स्वयं करतले - अपने हाथ की हथेली में रहने वाली, रेखात्रयं - तीन रेखाओं के, यथा - समान, सालोकम् त्रैलोक्यं - अलोकाकाश सहित तीनों लोकों को, सकलं - समस्त, त्रिकालविषयं त्रिकालवर्ती पदार्थों को, साक्षात् - प्रत्यक्ष रूप से, आलोकितम् - देख लिया गया है, यत् पदलंघनाय - जिनके पद को उल्लंघन करने के लिए, राग-द्वेषभयामयान्तक - राग, द्वेष, भय, रोग, यम, जरालोलत्वलोभादयः - जरा, बुढ़ापा, चंचलता, लोभ, मोह आदि कोई भी, अलं - समर्थ, न - नहीं, अस्ति - है, महादेवः - महादेव, स - वह, मया - मेरे द्वारा, वन्द्यते - वन्दना किया जाता है ।

भावार्थ : संसार में जिस प्रकार नेत्रवान व्यक्ति को अपने करतल (हाथ में) स्थित तीन रेखाएँ अंगुली सहित स्पष्ट दिखाई देती हैं; उसी प्रकार जिनके केवलज्ञान में अलोक सहित त्रैलोक्य के त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थ प्रत्यक्ष (करतल में स्थित रेखात्रय की तरह) दिखाई देते हैं, वे ही मुझ अकलंक के वन्दना योग्य महादेव हैं; अन्य लौकिक महादेव मेरा सच्चा महादेव नहीं है । राग-द्वेष, भय, रोग, यम, जरा, चंचलता, मोह आदि कोई भी विकृतियाँ जिन्हें अपने पद से चलायमान करने में समर्थ नहीं हैं, वह ही महादेव मेरे द्वारा वन्दना के योग्य है, अन्य रागी-द्वेषी महादेव मेरे द्वारा कभी भी वन्दनीय नहीं है ।

महादेव शब्द का युक्ति-युक्त अर्थ है - 'देवानां अधिदेवो महादेवः' अर्थात् जो देवों का देव है, वह देवाधिदेव महादेव है । वह देवों का देव, देवाधिदेव महादेव अरहंत देव ही हो सकता है, अन्य कोई नहीं । क्योंकि महादेव वही है, जो अठारह दोषों (क्षुधा-तृषादि) से रहित है । अन्य कोई लौकिक महादेव, महादेव कभी नहीं हो सकता । सच्चे महादेव अरहंत की मैं अकलंक वन्दना करता हूँ ।

दग्धं येन पुरत्रयं शरभुवा, तीव्रार्चिषा वह्निना,
यो वा नृत्यति मत्तवत् पितृवने, यस्यात्मजो वा गुहः ।
सोऽयं किं मम शङ्करो भयतृषा-, रोषार्ति-मोहक्षयं,
कृत्वा यः स तु सर्ववित्तनुभृतां, क्षेमङ्करः शङ्करः ॥2 ॥

अन्वयार्थ : येन - जिसने, शरभुवा - कामरूप बाणों से उत्पन्न हुई, तीव्रार्चिषा - भयंकर ज्वालाओं वाली, वह्निना - अग्नि के द्वारा, पुरत्रयं - तीन नगरों को, दग्धं - जलाया, वा - और, यः - जो, मत्तवत् - उन्मत्त पुरुष के समान, पितृवने - श्मशान में, नृत्यति - नृत्य करता है, यस्य - जिसका, आत्मज - पुत्र, गुहः - कार्तिकेय, अस्ति - है, किम् - क्या, सः - वह, अयम् - यह, मम - मेरा, शङ्करः - शंकर, स्यात् - हो सकता है? नहीं, तु - किन्तु, यः - जो, भयतृषारोषार्ति - भय, तृषा, क्रोध, दुःख, मोहक्षयं कृत्वा - मोह को क्षय करके, सर्ववित् - सर्वज्ञ हुआ है, तनुभृतां क्षेमङ्करः - वह जीवों का कल्याण करने वाला, शङ्करः - शंकर है।

भावार्थ : लोक में शंकर उसे माना है, जिसने कामरूप बाणों से उत्पन्न हुई भयंकर ज्वालाओं वाली अग्नि के द्वारा तीनों लोकों को जला दिया है अर्थात् जो काम के वशीभूत है, जो श्मशान भूमि में पागल पुरुष के समान नाचता है तथा जिसका पुत्र कार्तिकेय है। आचार्य श्री अकलंक स्वामी कहते हैं, जिसकी वासनाओं का अंत नहीं हुआ, वह मेरा अलौकिक शंकर कभी नहीं हो सकता है। मेरा शंकर तो वही है; जो भय, तृषा, क्रोध, दुःख, मोह को क्षय करके सर्वज्ञता को प्राप्त कर चुका है तथा जो प्राणीमात्र का कल्याण करने वाला है। वही मेरा 'शं' का तात्पर्य है शांति और 'कर' का तात्पर्य है करने वाला, शांति प्रदान करने वाला शंकर है। इनसे भिन्न अन्य कोई नहीं।

यत्नाद्येन विदारितं कररुहै-, दैत्येन्द्र- वक्षस्थलं,
सारथ्येन धनञ्जयस्य समरे, योऽमारयत्कौरवान् ।
नासौ विष्णुरनेक-कालविषयं, यज्ज्ञानमव्याहृतं,
विश्वं व्याप्त विजृम्भते स तु महाविष्णुः सदेष्टो मम ॥3 ॥

अन्वयार्थ : येन - जिसने, यत्नात् - प्रयत्न से, कररुहैः - नाखूनों के द्वारा,

दैत्येन्द्रवक्षस्थलम् – दैत्यराज हिरण्यकश्यप के वक्षःस्थल – सीने को, विदारितम् – छिन्न-भिन्न कर दिया और, यः – जिसने, समरे – युद्ध में, धनञ्जयस्य – धनंजय का, सारथ्येन – सारथी होकर, कौरवान् – कौरवों को, अमारयत् – मरवाया, असौ – वह, विष्णुः – विष्णु, न – नहीं, भवेत् – हो सकता किन्तु, यज्ज्ञानं – जिसका ज्ञान, अव्याहतम् – बाधा रहित, निरावरण, बिना रुकावट है, विश्वं – तीन लोक को, व्याप्य – व्याप्त करके, विजृम्भते – वृद्धि को प्राप्त हुआ है, सः – वही, महाविष्णुः – महाविष्णु, मम – मुझ अकलंक को, सदा – सदा/हमेशा, इष्टा – इष्ट है, मान्य है।

भावार्थ : जिसने बहुत प्रयत्न से अपने हाथ के नाखूनों के द्वारा दैत्यराज हिरण्य-कश्यप के सीने को छिन्न-भिन्न कर दिया, जिसने अर्जुन का सारथी बनकर युद्ध में कौरवों को मरवाया, ऐसा वह दयाहीन अवतार सबका रक्षक विष्णु कैसे हो सकता है अर्थात् विष्णु नहीं है।

विष्णु कौन है? आचार्य श्री अकलंक स्वामी लिखते हैं कि जिसका ज्ञान बाधा रहित है, आवरण रहित है, रुकावट रहित है तथा तीन लोक में व्याप्त करके वृद्धि को प्राप्त हुआ है, प्राणीमात्र को हित का उपदेश देने से हितोपदेशी/प्राणीमात्र का रक्षक अरहन्त ही मेरा महाविष्णु मुझे सदा मान्य है, इष्ट है। इनसे भिन्न कोई अन्य जन संहारक विष्णु नहीं हो सकता है।

उर्वश्यामुदपादि राग-बहुलं, चेतो यदीयं पुनः

पात्रीदण्डकमण्डलुप्रभृतयो, यस्याकृतार्थस्थितिम् ।

आविर्भावयितुं भवन्ति स कथं, ब्रह्मा भवेन् मादृशां

क्षुत्तृष्णा-श्रम-राग रोगरहितो, ब्रह्मा कृतार्थोऽस्तु नः ॥४॥

अन्वयार्थ : यदीयं – जिसके, चेतः – चित्त ने, उर्वश्याम् – उर्वशी नाम की देवांगना में, रागबहुलम् – राग की अधिकता को अर्थात् कामवासना की तीव्रता को, उपपादि – उत्पन्न किया, पुनः – और, पात्रीदण्डकमण्डलुप्रभृतयः – पात्र, दण्ड, कमण्डलु आदि बाह्य परिग्रहरूप पदार्थ, यस्य – जिसकी, अकृतार्थस्थितिम् – अकृतकृत्य दशा को, आविर्भावयितुम् – प्रकट करने में, भवन्ति – समर्थ है, सः – वह, मादृशाम्

– मुझ जैसे का , ब्रह्मा – ब्रह्मा, कथं – कैसे, भवेत् – हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता। किन्तु, क्षुतृष्णाश्रम-रागरोगरहितः – राग, पीड़ा, व्याधि रहित, कृतार्थ – कृतकृत्य, सः – वही , नः – हमारा, भवेत् – हो सकता है।

भावार्थ : जिसके चित्त ने कुचेष्टाओं के द्वारा उर्वशी नाम की देवांगना में तीव्र काम-वासना को उत्पन्न किया है, जो अकृतकृत्य है। अकृतार्थ अन्तरंग दशा के कारण ही जो बाह्य में पात्र, दण्ड, कमण्डलु आदि धारण करता है। ऐसा अकृतकृत्य मुझ अकलंक का वन्दनीय ब्रह्मा कैसे हो सकता है? कभी नहीं। हमारा ब्रह्मा कौन है – जो पूर्ण कृतकृत्य है, जिसे संसार में अब कुछ करना शेष नहीं रह गया है, जो कुछ भी करना था, वह कर चुका है; अतः कृतार्थ है। क्षुधा, तृषा, थकावट, राग, आधि-व्याधि आदि सर्व दोषों से मुक्त निर्दोष ही हमारा ब्रह्मा हो सकता है। इनसे भिन्न अन्य कोई लौकिक ब्रह्मा हमें मान्य नहीं है।

यो जग्ध्वा पिशितं समत्स्यकवलं, जीवं च शून्यं वदन्,
कर्त्ताकर्मफलं न भुङ्क्ते इति यो, वक्ता स बुद्धः कथम्।
यज्ज्ञानं क्षणवर्ति वस्तु सकलं, ज्ञातुं न शक्तं सदा,
यो जानन्युगपज्जगत्त्रयमिदं, साक्षात् स बुद्धो मम ॥5॥

अन्वयार्थ : यः – जो, समत्स्यकवलम् – मगरमच्छों के ग्रास वाले, पिशितं – मांस को, जग्ध्वा – खाता है, च – और, यः – जो जीव को, शून्यम् – शून्य, वदन् – कहता है, कर्त्ता – कर्म को करने वाला है, कर्मफलं – कर्मफल को, न – नहीं, भुङ्क्ते – भोगता, इति – इस प्रकार, वक्ता – कहता है, च – और, यज्ज्ञानं – जिसका ज्ञान, क्षणवर्ती – क्षणिक है अतः, सकलं वस्तु – सम्पूर्ण पदार्थों को, ज्ञातुम् – जानने के लिए, शक्तम् – समर्थ, सः – वह, बुद्धः – बुद्ध, कथम् – कैसे, भवेत् – हो सकता है, कभी नहीं किन्तु, सदा – जो निरन्तर, युगपत् – एक साथ, इदम् – इस, जगत्त्रयं – तीन जगत को, साक्षात् – प्रत्यक्ष, जानन् – जानता है, मम – वह मेरा, बुद्ध – बुद्ध है।

भावार्थ : लोक में जो मगरमच्छों के ग्रास वाले मांस पिण्ड को खाता है, जीव को शून्य कहता है। जो यह कहता है कि जीव कर्म को करता तो है, पर उसके फल को भोगता नहीं है तथा जिसका ज्ञान भी क्षणस्थायी है। क्षण-क्षण में परिवर्तनशील है। इस कारण जो

सम्पूर्ण पदार्थों को जानने में समर्थ नहीं है, वह मुझ अकलंक का बुद्ध कैसे हो सकता है। आचार्य श्री अकलंक स्वामी लिखते हैं - मेरे द्वारा पूज्य मेरा बुद्ध वही है, जो त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को एक साथ प्रत्यक्ष जानने में समर्थ है। अथवा जिसका ज्ञान त्रिकाल-त्रिजगत् के पदार्थों को युगपत् प्रत्यक्ष जानता है। अन्य कोई लौकिक बुद्ध मुझे इष्ट नहीं है।

स्रग्धरा

ईशःकिं छिन्नलिङ्गो यदि विगतभयः, शूलपाणिः कथं स्यात्,
नाथःकिं भैक्ष्यचारी, यतिरिति स कथं, साङ्गनः सात्मजश्च ।
आर्द्राजः किन्त्वजन्मा, सकलविदित किं वेत्ति नात्मान्तरायं,
संक्षेपात्सम्यगुक्तं, पशुपतिमपशुः, कोऽत्र धीमानुपास्ते ॥6 ॥

अन्वयार्थ : यदि - यदि महादेव, ईशः - ईश है, स्वामी या परमेश्वर है तो, छिन्नलिङ्ग - छिन्न लिंग वाला, किम् - क्यों है?, यदि - यदि, सः - वह, विगतभयः - भयरहित, अस्ति - है, तर्हि - तो, शूलपाणि - त्रिशूल है हाथ में जिसके अर्थात् त्रिशूलधारी, कथं - कैसे, स्यात् - हो सकता है? यदि वह, नाथः - नाथ है, स्वामी है, तर्हि - तो, भैक्ष्यचारी - भिक्षाभोजी, किम् - क्यों, अस्ति - है? यदि, सः - वह, यतिः - साधु या मुनि है, तो, साङ्गनः - अंगना सहित, च - और, सात्मजः - आत्मज, पुत्र सहित, पुत्रवान्, आर्द्राजः - आर्द्रा से उत्पन्न हुआ है, किन्तु - किन्तु, अजन्मा - जन्म रहित, अस्ति - है। यदि, सकलवित् - सभी पदार्थों को जानने वाला है, आत्मान्तरायम् - अपनी आत्मा की भीतरी दशा को, वेत्ति - जानता है, संक्षेपात् - संक्षेप रूप से, सम्यक् - भले प्रकार से, उक्तम् - कहे गए, पशुपतिम् - पशुपति को अर्थात् अज्ञानी को, कः - कौन, अपशुः - ज्ञानी/बुद्धिमान, अत्र - यहाँ/इस संसार में, उपास्ते - उपासना आराधना - पूजा करेगा अर्थात् कोई नहीं।

भावार्थ : आचार्य श्री अकलंक स्वामी महादेव के भक्तों से पूछ रहे हैं, तर्क की कसौटी पर कसकर वे समस्या का हल माँग रहे हैं। यदि हमें प्रश्नों का सत्य उत्तर दे सकते हैं, तब तो आपका श्रद्धान ठीक है; अन्यथा आपकी महादेव के प्रति उपासना एक अन्ध-विश्वास मात्र है।

आचार्य अकलंक के प्रश्न :

1. क्या आपका महादेव ईश्वर है? यदि हाँ, तो फिर छिन्नलिंग वाला क्यों है?
2. यदि वह भयरहित है तो हाथों में त्रिशूल धारण क्यों करता है?
3. यदि वह सबका स्वामी/नाथ है तो भिक्षा से भोजन क्यों करता है?
4. यदि वह साधु है तो अपने अर्द्धांग में स्त्री को धारण करने वाला क्यों है?
5. वह साधु है तो पुत्रवान कैसे है?
6. यदि वह अजन्मा है तो आर्द्रा से उत्पन्न हुआ कैसे है ?
7. यदि वह सर्वज्ञ है तो फिर अपनी आत्मा की भीतर दशा को क्यों नहीं जानता?

सारांश यही कि ईश्वर होकर जो छिन्न लिंगवाला है, निर्भय होकर त्रिशूल धारण करता है, वही स्वामी होकर भिक्षा-भोजी है। साधु होकर स्त्री में आसक्त है, पुत्रवान है, अजन्मा होकर आर्द्रा से उत्पन्न है, सर्वज्ञ होकर भी जो स्वयं की आत्मा की भीतरी दशा को जानने में असमर्थ है; वह सचमुच अज्ञानी ही है। ऐसे अज्ञानी की आराधना कोई भी बुद्धिमान, हेयोपादेय बुद्धि का ज्ञात कभी नहीं करेगा। ऐसा महादेव मुझ अकलंक का उपास्य हो ही नहीं सकता है।

मेरा सच्चा महादेव वही है, जो ईश्वर है, छिन्नलिंग रहित है, निर्भय होने से शस्त्रादि जिसके हाथों में नहीं हैं, सबका स्वामी है, तृप्त होने से भोजन की इच्छा से भी रहित है अर्थात् कवलाहार से रहित है। पूर्ण ब्रह्मचर्य का धारक होने से स्त्री-पुत्रादि से रहित, जन्म-मरण के दुःखों से दूर त्रिकालवर्ती सर्व पदार्थों को जानता हुआ अपनी आत्मा के अंतरंग वैभव में लीन है। वही ज्ञानियों के द्वारा उपास्य है।

**ब्रह्मा चर्माक्षसूत्री, सुरयुवति-रसावेश-विभ्रान्त-चेताः,
शम्भुः खट्वाङ्गधारी, गिरिपतितनया-, पाङ्गलीलानुविद्धः ।
विष्णुश्चक्राधिपः सन् दुहितरमगमद्-, गोपनाथस्य मोहा,
दर्हन्विध्वस्तरागो, जितसकलभयः, कोऽयमेष्वाप्तनाथः ॥७॥**

अन्वयार्थ : ब्रह्मा - ब्रह्मा जी, चर्माक्षसूत्री - चमड़ा और अक्षमाला को रखते हैं, सुरयुवति-रसावेश - जिनका चित्त देवांगनाओं के, विभ्रान्तचेताः - प्रेम से विभ्रान्त

हो रहा है। शम्भुः - महादेव जी, खट्वांगधारी - चारपाई पर सोने वाला, गिररिपतितनयापांग - हिमालय की पुत्री पार्वती की, लीलानुविद्धः - कामचेष्टाओं से पीड़ित है, विष्णुः - विष्णु जी, चक्राधिपः - सुदर्शन चक्र के स्वामी, सन् - होते हुए, गोपनाथस्य - ग्वालों के राजा की, दुहितरम् - पुत्री को, अगमत् - सेवन करने वाले हैं, एषु - इन ब्रह्मा, महादेव और विष्णु में, विध्वस्तरागः - राग का नाश करने वाले/ वीतरागी, जितसकलभयः - समस्त प्रकार के भय को जीतने वाले, अयम् - यह, आप्तनाथ - वीतरागी सर्वज्ञ हितोपदेशी तीन लोक का स्वामी, अर्हन् - अरिहंत, कः - कौन, अस्ति - है? अर्थात् कोई नहीं है।

भावार्थ : 1. लोक में जिसे ब्रह्मा कहा जाता है, वह जीवों का कलेवर और अक्षमाला रखता है। स्त्री राग में उत्तम हो रहा है। देवांगनाओं के हास-विलास में उसका चित्त चलायमान हो चुका है।

2. लोक में जिसे शम्भु/शंकर कहते हैं, वह स्वयं वासना लम्पटी हो चारपाई पर सोता है, पार्वती के राग में अन्धा हो स्व को जानता ही नहीं है।

3. लौकिक विष्णु जिन्हें श्रीकृष्ण के नाम से पुकारते हैं, त्रिखण्ड का राजा होते हुए भी ग्वालों की पुत्रियों में रागी हुआ परस्त्रियों में मग्न हो रहा है।

इन ब्रह्मा-शंकर और विष्णु में पूर्ण वीतरागी-सर्वज्ञ-हितोपदेशी कहलाने योग्य, घातिया कर्मों का क्षय करने वाला कोई भी दृष्टिगोचर नहीं होता। सब संसार की उलझन में फँसे राग-द्वेष आदि दोषों से युक्त हैं, वे अरहंत कहलाने योग्य नहीं हैं। मुझ अकलंक का ब्रह्म अरिहंत है, शम्भु अरिहंत है तथा विष्णु भी अरिहंत ही है अन्य कोई नहीं।

एको नृत्यति विप्रसार्य ककुभां, चक्रे सहस्रं भुजा,

नेकः शेषभुजङ्ग-भोगशयने, व्यादाय निद्रायते ।

दृष्टुं चारुतिलोत्तमा-मुखमगा-, देकश्चतुर्वक्त्रता,

मेते मुक्तिपथं वदन्ति विदुषा-, मित्येतदत्यद्भुतम् ॥४॥

अन्वयार्थ : एकः - शिवजी, ककुभाम् - दिशाओं के, चक्रे - चक्र-मण्डल में, सहस्रं - हजारों, भुजान् - भुजाओं को, विप्रसार्य - फैलाकर, नृत्यति - नृत्य करते हैं।

एकः - विष्णुजी, शेषभुजंगभोगशयने - शेषनाग के शरीररूप शय्या पर, व्यादाय - मुख को खोलकर, निद्रायते - सोते हैं, एकः - श्री ब्रह्माजी, चारुतिलोत्तमा मुखम् - सुंदर तिलोत्तमा के मुख को, दृष्टुम् - देखने के लिए, चतुर्वक्त्रताम् - चार मुखपना को, आगत् - प्राप्त हुए, एते - ये शिव, विष्णु और ब्रह्मा, विदुषाम् - विद्वानों को, मुक्तिपथम् - मोक्षमार्ग को, वदन्ति - कहते हैं, इति - इस प्रकार, एतत् - यह, अति - बड़े, अद्भुतम् - आश्चर्य की बात है

भावार्थ : शिवजी अपनी हजारों भुजाओं को फैलाकर दसों दिशाओं के चक्रमण्डल में नाचते हैं। विष्णुजी प्रमादी बनकर शेषनाग के शरीर रूप शय्या पर मुँह खोलकर सोते हैं और ब्रह्माजी ने सुन्दर तिलोत्तमा के रूप को देखने के लिए चार मुख बनाये हैं - ऐसे रागी जीवों को अहो! आश्चर्य है कि लौकिक जन विद्वानों को मुक्ति पथ का उपदेश देने वाले कहते हैं। यह तो बड़े आश्चर्य की बात है। विचार कीजिए, जिन्हें अपनी अतृप्त वासनाओं की तृप्ति से फुर्सत नहीं है, वे मोक्षमार्ग का उपदेश कैसे दे सकते हैं? फिर भी यदि उन्हें मोक्षमार्ग का उपदेशक माना जा रहा है। यह तो अति आश्चर्यकारी है, कलिकाल का ही प्रभाव है।

यो विश्वं वेद वेद्यं, जननजलनिधे-, भङ्गिनः पारदृशवा,
पौर्वापर्या-विरुद्धं, वचनमनुपमं, निष्कलङ्कं यदीयम् ।
तं वन्दे साधुवन्द्यं, सकल-गुणनिधिं, ध्वस्त-दोषद्विषन्तं,
बुद्धं वा वर्द्धमानं, शत-दल-निलयं, केशवं वा शिवं वा ॥9 ॥

अन्वयार्थ : यः - जो, वेद्यम् - जानने योग्य, विश्वम् - विश्व को, वेद - जानता है और जो, भङ्गिनः - नाना प्रकार के राग-द्वेष-शोक-भय-पीड़ादि, जननजलनिधेः- संसारसमुद्र के, पारदृशवा - पार को देख चुके हैं, यदीयम् - वचन, अनुपमम् - उपमा रहित, निष्कलंकम् - निर्दोष, पौर्वापर्याविरुद्धम् - पूर्वापर विरोध से रहित हैं, सकलगुणानिधिम् - समस्त गुणों के स्वामी, ध्वस्तदोषद्विषन्तम् - नष्ट कर दिया है राग-द्वेषादि दोषों को जिन्होंने, साधुवन्द्यम् - ऋषि-मुनियों के द्वारा वंदनीय, तं - उन महान परमात्मा की, अहम् - मैं, वन्दे - वन्दना करता हूँ वह, बुद्धं वा - चाहे बुद्ध हो, वर्द्धमानं वा - चाहे वर्द्धमान हो, वा शतदलनिलयम् - चाहे ब्रह्मा हो, वा केशवम् -

चाहे विष्णु हो, वा शिवम् – अथवा महादेव हो।

भावार्थ : जो जानने योग्य सर्व विश्व को जानते हैं, राग-द्वेषादि अठारह दोषों से रहित हैं, संसार-समुद्र से पार हो चुके हैं, जिनके वचन निर्दोष, उपमा रहित, पूर्वापर विरोध से रहित हैं – ऐसे समस्त गुणों के स्वामी, बड़े-बड़े मुनियों से वन्दनीय परमात्मा मुझ अकलंक के लिए वन्दनीय हैं। वे नाम से ब्रह्मा, विष्णु, शंकर या वर्द्धमान कोई भी हों। गुणों की पूजा जैनशासन में है, व्यक्ति या नाम की नहीं।

माया नास्ति जटाकपाल-मुकुटं, चन्द्रो न मूर्धावली,
खट्वाङ्गं न च वासुकिर्न च धनुः शूलं न चोग्रं मुखम्।
कामो यस्य न कामिनी न च वृषो, गीतं न नृत्यं पुनः,
सोऽस्मान्पातु निरञ्जनो जिनपतिः, सर्वत्र सूक्ष्मः शिवः ॥10 ॥

अन्वयार्थ : यस्य – जिसके, माया – नाना प्रकार के रूप स्वांग बनाना, न अस्ति – नहीं है, यस्य – जिसके, जटा – जटा, कपालमुकुटं – कपालमुकुट, चन्द्रः – चन्द्रमा, मूर्धावली – मूर्धावली, खट्वाङ्गम् – खट्वाङ्ग अस्त्र विशेष/हथियार, न – नहीं है, वासुकिः – वासुकि-सर्प, च – और, धनुः – धनुष, शूलम् – शूल, न – नहीं है, च – और, उग्रं मुखम् – भयावना मुख, न – नहीं है, यस्य – जिसके, कामः – काम, च – और, कामिनी – स्त्री, न – नहीं है, च – और, यस्य – जिसके, वृषः – बैल, गीतम् – गीत-गाना, पुनः – और, नृत्यम् – नृत्य करना, न अस्ति – नहीं है, सः – वह, निरञ्जन – कर्ममल रहित, सूक्ष्मः – सूक्ष्म, शिवः – शिव, जिनपतिः – जिनेन्द्र देव, सर्वत्र – सब जगह तीनों लोकों में, अस्मान् – हम सबकी, पातु – रक्षा करें।

भावार्थ : आचार्यश्री अपने पूज्य देवाधिदेव अरहन्त जिनेन्द्र की शानी बताते हुए यहाँ लिखते हैं – जिसके पास स्वाङ्गरचना रूप माया, जटा, कपाल, मुकुट, चन्द्रमा, मूर्धावली, हथियार, त्रिशूल, धनुष, सर्प आदि नहीं हैं। जिनका मुख उग्र/भयानक न होकर पूर्ण वीतरागता के रस से भीगा हुआ है। जिसके पास न काम है, न स्त्री है, न बैल, गीत, नृत्य आदि कार्य नहीं है।

जो नित्य, निरञ्जन, निर्विकार समता देवी में सतत लीन हैं, कर्ममल रहित हैं, निरञ्जन हैं, सूक्ष्म हैं, शिव हैं, वे विश्व व्याप्त तीन लोक का स्वामी सब जगह हमारी रक्षा करें।

नो ब्रह्माङ्कित-भूतलं न च रहेः, शम्भोर्न मुद्राङ्कितं,
नो चन्द्रार्क-कराङ्कितं सुरपते-, वज्राङ्कितं नो वचः ।
षड्वक्त्राङ्कित- बौद्ध-देव-हुतभुग्यक्षोरगैर्नाङ्कितं,
नग्नं पश्यत वादिनो जगदिदं, जैनेन्द्र-मुद्राङ्कितम् ॥11 ॥

अन्वयार्थ : वादिनः - हे वादियो, इदं - इस, जगत् - संसार को, ब्रह्माङ्कित भूतल - ब्रह्मा से व्याप्त भूमिवाला, नो - नहीं, पश्यत - देखो, च - और, हरेः - श्री कृष्ण की, मुद्राङ्कितम् - मुद्रा से व्याप्त, चन्द्रार्कशङ्कितम् - चन्द्रमा और सूर्य की किरणों से व्याप्त, सुरपतेः - सुरपति/इन्द्र के, वज्राङ्कितम् - वज्र से व्याप्त, च - और, षड्वक्त्राङ्कितबौद्ध - गणेश, बौद्धदेव, अग्नि, देवहुतभुग्यक्षौरगैः - यक्ष और शेषनाग से व्याप्त, नो - नहीं, पश्यत - देखो/अपितु, वादिनः - हे वादियो! तुम लोग, इदम् - इस, जगत् - संसार को, नग्नं - दिगम्बर, जैनेन्द्रमुद्राङ्कितम् - वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशी, श्री जिनेन्द्रदेव की मुद्रा से अंकित देखो।

भावार्थ : ईश्वर के शरीर में विवाद करने वाले वादी लोग इस संसार को विभिन्न रूपों में देखते हैं। उसका निराकरण करते हुए आचार्य श्री अकलंक स्वामी वादियों को पुकारते हुए कहते हैं - हे वादियो! यह संसार ब्रह्मा से व्याप्त भूमिवाला, कृष्ण की मुद्रा से व्याप्त, महादेव की मुद्रा से व्याप्त, चन्द्रमा और सूर्य की किरणों से व्याप्त, सुरपति के वज्र से व्याप्त और गणेश, बुद्ध, अग्नि, यक्ष तथा शेषनाग से भी व्याप्त नहीं है अतः तुम इस संसार को उस रूप मत देखो। यह संसार तो वास्तव में दिगम्बर-वीतराग-सर्वज्ञ-हितोपदेशी जिनेन्द्र देव की मुद्रा से व्याप्त है; अतः इसे जिनेन्द्र मुद्रांकित देखो। त्रिकालदर्शी जिनदेव के ज्ञान में सर्व चराचर लोक दर्पणवत् स्पष्ट झलक रहा है, उनके ज्ञान के बाहर अणुमात्र भी नहीं है; अतः तुम इस लोक को दिगम्बर जिनमुद्रा से व्याप्त देखो।

मौञ्जीदण्ड-कमण्डलु-प्रभृतयो, नो लाञ्छनं ब्रह्मणो,
रुद्रस्यापि जटा-कपाल-मुकुटं, कौपीनखट्वाङ्गनाः ।
विष्णोश्चक्रगदादि-शङ्ख-मतुलं, बुद्धस्य रक्ताम्बरं,
नग्नं पश्यत वादिनो जगदिदं, जैनेन्द्र-मुद्राङ्कितम् ॥12 ॥

अन्वयार्थ : मौञ्जीदण्डकमण्डलु – मूँज की बनी हुई रस्सी, प्रभृतयः – कमर बन्ध, दण्ड, कमण्डलु अथवा जलपात्र आदि, ब्रह्मणः – ब्रह्मा के, लाञ्छनं – चिह्न, नो – नहीं, अस्ति – हैं, जटाकपालमुकुटं – जटाजूट-कपाल-मुकुट, कोपीनखट्वांगना – लँगोटी, खट्वांग/अस्त्रविशेष/अंगना/स्त्री/पार्वती, रुद्रस्य – रुद्र/महादेव का, लाञ्छनम् – चिह्न, नो – नहीं, अस्ति – है, अतुलं – उपमारहित, चक्रगदादिशंखम् – सुदर्शन चक्र, शंख और गदा आदि, विष्णोः – विष्णु का, लाञ्छनं – चिह्न, नो – नहीं, अस्ति – है, रक्ताम्बरं – रक्त वस्त्र धारण करना, बुद्धस्य – बुद्ध का, लाञ्छनं – चिह्न, नो – नहीं, अस्ति – है, वादिनः – हे वादियो, जैनेन्द्रमुद्रांकितम् – श्री जिनेन्द्रदेव की परम शान्त वीतराग मुद्रा से चिह्नित, नग्नम् – दिगम्बरत्व ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश, बुद्ध का यथार्थ चिह्न है, इदं जगत् – इस जगत को, जैनेन्द्रमुद्रांकितम् – जिनेन्द्र मुद्रा से व्याप्त, पश्यत – देखो।

भावार्थ : अन्य लौकिक जन ब्रह्मा-विष्णु-महेश महादेव का भिन्न-भिन्न रूप मानते हुए कहते हैं कि जो कमर में मूँज की रस्सी बाँधे हैं, हाथ में दण्ड, कमण्डलु लिये हैं, वह ब्रह्मा हैं। जो सिर में जटा-जूट धारण किये हैं, लँगोटी लगाते हैं, अस्त्र/हथियार लिये हैं तथा पार्वती को अपने साथ (अर्धांग) में रखते हैं, वे महादेव/रुद्र हैं तथा जिनके पास चक्र, शंख व गदा रहती है, वे विष्णु हैं और जो लाल वस्त्र को धारण करते हैं, वे बुद्ध हैं। यहाँ श्री अकलंक स्वामी लिखते हैं कि इस प्रकार की जो मिथ्या श्रद्धा है, वह असत्यार्थ है। ब्रह्मा-विष्णु-महादेव के ऐसे असत्यार्थ प्रतिपादक चिह्न बताना असत्यार्थ ही है; क्योंकि सत्यार्थ ब्रह्मा, विष्णु आदि के ये लक्षण कभी नहीं हो सकते हैं।

आचार्यश्री वादियों को पुकार कर कहते हैं – हे वादियो! जो नग्न दिगम्बर हो, वीतराग जिनेन्द्र मुद्रा से युक्त हो, अपने आत्मस्वरूप में रमण करते हैं – ऐसे अरहंत ही ब्रह्मा है। वे अरहंत देव तीन लोकों में शांति प्रदान करने से शंकर हैं, महादेव हैं। वे अरहंत देव ही विष्णु हैं तथा ज्ञानियों द्वारा अर्चित होने से अरहंत ही बुद्ध हैं। अन्य कोई ब्रह्मा, विष्णु, शंकर बुद्ध नहीं हो सकता। जो स्वयं दुःखी है, जो स्वयं कामी हो, स्त्री को साथ रखता है, जो स्वयं डरपोक हो, हथियार हाथ में लिये हो, वह हमारा महादेव शंकर कैसे हो सकता है?

नाहङ्कार – वशीकृतेन मनसा, न द्वेषिणा केवलम्,
नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने, कारुण्य-बुद्ध्या मया ।
राज्ञः श्रीहिमशीतलस्य सदसि, प्रायो विदग्धात्मनो,
बौद्धोघान्सकलान्विजित्य स घटः, पादेन विस्फालितः ॥13 ॥

अन्वयार्थ : मया – मुझ अकलंक ने, अहंकारवशीकृतेन – मान के वश में किये, मनसा – मन से, न – नहीं, द्वेषिणा – द्वेष से भरे हुए, मनसा – मन से, न – नहीं अपितु, केवलम् – सिर्फ/मात्र, नैरात्म्यम् – आत्मा के शून्यत्व को, प्रतिपद्य – जानकर/स्वीकार करके, जने – लोगों के, नश्यति – मोक्षमार्ग से भ्रष्ट होने पर, कारुण्य-बुद्ध्या – करुणामय बुद्धि से ही, राज्ञः – राजा, श्री हिमशीतलस्य – श्री हितशीतल की, सदसि – सभा में, सकलान् – सभी, विदग्धात्मनः – गर्भीले मूढ़ आत्माओं को, बौद्धोघान् – बौद्ध भक्तों को, विजित्य – जीत करके, सः – उस, घटः – घड़े को, पादेन – पैर से, विस्फालितः – फोड़ दिया।

भावार्थ : राजा हिमशीतल की सभा में अकलंक देव का बौद्धों के साथ बहुत लम्बे समय तक विवाद चलता रहा। अकलंक देव की तार्किक विद्या के सामने सभी बौद्ध विवाद में असफल रहे, तब उन्होंने मायाजाल रचा। तारादेवी को घट में स्थापित कर दिया और पर्दे की ओट में विवाद शुरू हुआ। तारादेवी के साथ छह माह तक अकलंकदेव का विवाद चलता रहा। एक दिन अचानक आचार्य देव के मस्तिष्क में सत्यार्थ का प्रकाशन हुआ। उन्होंने सोचा कि इन बौद्धों में ऐसा कोई विद्वान् नजर नहीं आता जो मुझ स्याद्वादी के सामने छह माह तक टिक सके, अवश्य ही कोई मायाजाल है। उन्होंने पर्दे को हटाया। वहाँ देखा कि वाद करने वाला कोई व्यक्ति नहीं था। तुरन्त वे समझ गये, ये सब देव-माया है। उन्होंने तुरन्त ही उस घड़े को अपने पैर से फोड़ दिया। तारादेवी उसमें से तुरन्त ही भाग निकली। इसी घटना का चित्रण करते हुए अकलंकदेव लिखते हैं।

मुझ अकलंक ने सर्वथा आत्मा के अभाव की बात करने वाले शून्यवाद का ढोंग रचाकर, मोक्षमार्ग से पतित होने वाले लोगों को अनन्त संसार परिभ्रमण से बचाने के लिए करुणाबुद्धि से, अहंकार में मदमाते क्षणिकवादियों, समस्त बौद्धों के भक्तों का हिमशीतल राजा की सभा में जीतकर उस तारादेवी के घड़े को पैर से फोड़ दिया था।

दिगम्बर सन्त वीतरागी होते हैं, उन्हें ऐसा कार्य नहीं करना था। यदि ऐसी शंका करें तो आचार्य श्री कहते हैं - मैंने यह कार्य 'अहं' के वश या बौद्धों से द्वेषवश नहीं किया है, अपितु अनन्त ज्ञानमय पिटारा परम प्रभु आत्मा है, उसके प्रति उनकी जो भूल है, नैरात्म्यवाद/शून्यवाद जिसके आश्रय से जीवों का मोक्षमार्ग भ्रष्ट होता है, उससे बचकर उन्हें मोक्ष-पथ पर ले जाने के लिए 'करुणामयी' बुद्धि से यह मैंने कार्य किया है। मेरा किसी प्राणी से द्वेष नहीं है और न ही मुझे अहंकार है। सत्य-पथ का प्रदर्शन, मिथ्यामत/मिथ्यापथ का कदर्थन मेरा कर्तव्य है, वहीं मैंने किया है।

खट्वाङ्गं नैव हस्ते, न च हृदि रचिता, लम्बते मुण्डमाला,
भस्माङ्गं, नैव शूलं, न च गिरि-दुहिता, नैव हस्ते कपालं।
चन्द्रार्द्धं नैव मूर्धन्यपि वृषगमनं नैव कण्ठे फणीन्द्रः,
तं वन्दे त्यक्तदोषं, भव-भय-मथनं, चेश्वरं देवदेवम्॥14॥

अन्वयार्थ : यस्य - जिसके, हस्ते - हाथ में, खट्वाङ्गं - हथियार विशेष, न अस्ति - नहीं है, यस्य - जिसके, हृदि - वक्षस्थल पर, रचिता - गूँथी हुई, मुण्डमाला - मुण्डमाला, न - नहीं, लम्बते - लटक रही है, यस्य - जिसके, भस्माङ्गम् - शरीर पर राख नहीं है, च - और, शूलम् - शूल, न अस्ति - नहीं है, यस्य - जिसके साथ, गिरि दुहिता - हिमालय की पुत्री पार्वती, न - नहीं है, यस्य हस्ते - जिसके हाथ में, कपालं - कपाल - नर खोपड़ी, न - नहीं, अस्ति - है, यस्य - जिसके, मूर्ध्नि - मस्तक पर, चन्द्रार्द्धम् - अर्द्धचन्द्र, न - नहीं, अस्ति - है, कण्ठे - कण्ठ में, फणीन्द्रः - सर्प, नैव - नहीं है, अस्ति - है, तम् - उस, देवदेवम् - देवाधिदेव अरहन्त देव महादेव को, वन्दे - मैं वन्दन, नमस्कार करता हूँ, यः - जो, त्यक्तदोषम् - राग, द्वेष व क्षुधादि दोषों से रहित है, भवभयमथनम् - संसार के भय विनाशक हैं, च - और, ईश्वर - तीन लोक का स्वामी है, त्रिलोकाधिपति है।

भावार्थ : प्रस्तुत श्लोक में आचार्य श्री अकलंक स्वामी ने बताया है कि मेरे द्वारा वन्दनीय मेरा महादेव कौन है?

जिसके हाथों में हथियार नहीं है, वक्षःस्थल पर मुण्डमाला नहीं लटक रही है, शरीर

भस्म से युक्त नहीं है, शूल से रहित है, वैरागी होने से जितेन्द्रिय निष्कामी है, जिसके साथ स्त्री कभी नहीं रहती है। जिसके हाथ में नर-कपाल नहीं रहता, जिसके मस्तक पर अर्द्धचन्द्र नहीं है, जिसके कण्ठ में सर्प नहीं है, जो वीतरागी सर्व दोषों से रहित संसार भय का विनाशक है, देवों का देव देवाधिदेव महादेव है, तीनों लोकों का मात्र स्वामी है; वही त्रिलोकाधिपति देवाधिदेव अरहन्त देव मेरे द्वारा वन्दनीय है। मैं उनकी वन्दना करता हूँ। इनसे भिन्न अन्य कोई लौकिक देव महादेव नहीं है।

किं वाद्यो भगवानमेय-महिमा, देवाऽकलङ्कः कलौ,
काले यो जनता-सुधर्म-निहितो, देवाऽकलङ्को जिनः।
यस्य स्फारविवेक-मुद्रलहरी-, जाले प्रमेयाकुला,
निर्मग्ना तनुतेतरा भगवतो, तारा शिरः कम्पनम् ॥15 ॥

अन्वयार्थ : यस्य - जिन, भगवान् - भगवान् भट्टाकलंक स्वामी, स्फारविवेकमुद्र - विशाल सम्यग्ज्ञान रूप, लहरीजाले - समुद्र की तरंगों के समूह में, निर्मग्ना - डूबी हुई अतएव, प्रमेयाकुल - अपार, प्रमेय - पदार्थों से व्याप्त, भगवती - भगवती श्रुत देवी ने, ताराशिरः कम्पनम् - तारादेवी के मस्तक को हिलाने की क्रिया को, तनुतेतराम् - विस्तारा और, यः - जिन अकलंक देव ने, कलौ काले - पंचम काल में, जनताः सुधर्म - जनता का उत्तम श्रेष्ठ, निहितः - जिन-धर्म में लगाया, सः - वह, अकलंक - मिथ्यात्वादि कलंक से रहित अकलंक, जिनः - मिथ्यात्व विजेता, देवः - अकलंक देव, यः - जो, भगवान् - तत्त्वज्ञान वेत्ता है, अमेयमहिमा - अतुल रत्नत्रय की गरिमा से माहात्म्यवान् हैं, किम् - क्या, वाद्यः - शास्त्रार्थ करने योग्य हैं अर्थात् नहीं

भावार्थ : भट्टाकलंकदेव की विशाल बुद्धि व तार्किक शक्ति थी। उनका विशाल ज्ञान समुद्र अपरिमित प्रमेय से व्याप्त था। उनको अपूर्व तत्त्वज्ञान शक्ति युक्त भगवती सरस्वती देवी तारादेवी के मस्तिष्क को हिलाकर पंचम काल में जिनधर्म की अपूर्व प्रभावना की है। जिन्होंने कलिकाल में मिथ्याभिमान से चूर मिथ्यावादियों का मद दूर कर जनता को उत्तम जैनधर्म में लगाया, जो मिथ्यात्व के कलंक से दूर अकलंक थे। ऐसे असीम ज्ञानधारा के पुंज यथार्थ तत्त्ववेत्ता के साथ कौन वाद करेगा अर्थात् कोई नहीं। अप्रेय महिमा अर्थात् रत्नत्रय के

धनी चारित्र के शिखर को प्राप्त क्या अकलंक देव सामान्य जीवों के वाद/शास्त्रार्थ करने के योग्य हो सकते हैं? कभी नहीं/ अर्थात् ऐसे तार्किक लोकोत्तर ज्ञानी के साथ कौन अल्पज्ञानी वाद करने की हिम्मत करेगा अर्थात् कोई नहीं।

सा तारा खलु देवता भगवती- , मन्यापि मन्यामहे,
षणमासावधिजाड्यसांख्यमगमद्- , भट्टाकलंकप्रभोः ।
वाक्कल्लोल-परम्पराभि-रमते, नूनं मनो मज्जन-
व्यापारं सहते स्म विस्मित- मतिः, सन्ताडितेतस्ततः ॥16 ॥

अन्वयार्थ : सा - वह, तारा - तारा नाम की, देवता - देवी, खलु - निश्चय से ऐतिहासिक घटना के अनुसार भगवान, षणमासावधि - श्री भट्टाकलंक के साथ छह मास तक निरन्तर शास्त्रार्थ करती रही तथापि, भट्टाकलंकप्रभोः - भगवान भट्टाकलंक स्वामी के, वाक्कल्लोलपरम्पराभिः - युक्ति-युक्त तार्किक वचन रूप महातरंगों की परम्परा से, सन्ताडिता - पराजय को प्राप्त हुई अतः, जाड्यसांख्यम् अगमत् - अज्ञानियों की गणना को प्राप्त हुई। अपनी पराजय से लज्जित हो, विस्मितमतिः - आश्चर्यान्वित हो, नूनम् - निश्चय से शर्मिन्दा हुई के समान, अमते - मिथ्यावस्तु स्वरूप के प्रतिपादक बौद्धों के एकान्तमत में ही, इतस्ततः - इधर-उधर, मनो मज्जनम् - मन को स्थिर करने की कठिनाइयों को, सहते स्म - सहने लगी, एवम् - ऐसा, वयम् - हम, मन्यामहे - मानते हैं।

भावार्थ : ऐतिहासिक घटना के अनुसार अपने आपको सर्वोपरि ज्ञानवाली, भगवती सरस्वती मानने वाली तारादेवी ने भट्टाकलंक देव दिगम्बर साधु से छह माह तक शास्त्रार्थ किया, किन्तु आचार्यश्री की वाद विद्या पैनी दृष्टि व युक्तियुक्त तार्किक वाणी रूपी तरंगों के सामने वह नहीं टिक पाई, पराजित हो गई और सत्यार्थ तत्त्वज्ञान से परिचित अज्ञानियों की गणना को प्राप्त हुई। तारादेवी अपनी पराजय से लज्जित हो आश्चर्यचकित रह गई। अब लज्जित हो मिथ्या एकान्तमय क्षणिकवाद के प्रतिपादक बौद्धों के मत में ही इधर-उधर अपने मन को कठिनता से स्थिर कर कठिनाइयों को सहने लगी - ऐसा हम जानते हैं।

॥ इति श्री अकलंकस्तोत्रम् ॥

25. जैनरक्षास्तोत्रम्

श्रीजिनं भक्तितो नत्वा त्रैलोक्याह्लादकारकम् ।
जैनरक्षामहं वक्ष्ये देहिनां देहरक्षकम् ॥1॥ ।
ॐ ह्रीं आदीश्वरः पातु शिरसि सर्वदा मम ।
ॐ ह्रीं श्री अजितो देवो भालं रक्षतु सर्वदा ॥2॥ ।
नेत्रयोः रक्षको भूयात् ॐ आं क्रौं सम्भवो जिनाः ।
रक्षेद् घ्राणेन्द्रिये ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ब्लूं अभिनन्दनः ॥3॥ ।
सुजिह्वे सुमुखे पातु सुमतिः प्रणवान्वितः ।
कर्णयोः पातु ॐ ह्रीं श्रीरक्तः पद्मप्रभः प्रभुः ॥4॥ ।
सुपार्श्वः सप्तमः पातु ग्रीवायां ह्रीं श्रियाश्रितः ।
पातु चन्द्रप्रभः श्रीं ह्रीं क्रौं पूर्वस्कन्धयोर्मम ॥5॥ ।
सुविधिः शीतलो नाथो रक्षको करपंकजे ।
ॐ क्षां क्षीं क्षूं युतौ कामं चिदानन्दमयौ शुभौ ॥6॥ ।
श्रेयांसो वासुपूज्यश्च हृदये सदयं सदा ।
भूयाद् रक्षाकरो वारं वारं श्री प्रणवान्वितः ॥7॥ ।
विमलो अनन्तनाथश्च मायाबीजसमन्वितौ ।
उदरे सुन्दरे शश्वद् रक्षायाः कारकौ मतौ ॥8॥ ।
श्री धर्मशान्ति नाथौ च नाभिपंके रुहे सताम् ।
ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं हं संयुक्तौ पुनः पातां पुनः पुनः ॥9॥ ।
श्री कुन्थु अरनाथौ तु सुगुरु सुकटीतटे ।
भवेतामवकौ भूरि ॐ ह्रीं क्लीं सहितौ जिनौ ॥10॥ ।
मे पातां चारुजंघायां श्री मल्लि मुनि सुव्रतौ ।
ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ततो हः ब्लूं क्लीं श्रीं युक्तौ कृपा करौ ॥11॥ ।

यत्नतो रक्षकौ जानु श्री नमिनेमिनाथकौ ।
 राजाराजीमतीमुक्तौ प्रणवाक्षरपूर्वकौ ॥12॥
 श्री पार्श्वेश महावीरौ पातां मां ह्रौं सुमानदौ ।
 ॐ ह्रीं श्रीं च तथा भ्रूंकलीं ह्रां हःश्रां श्रःयुतौजिनौ ॥13॥
 रक्षाकरा यथास्थाने भवन्तु जिननायकः ।
 कर्मक्षयकरा ध्याता भीतानां भयवारकाः ॥14॥
 जैनरक्षां लिखित्वेमां मस्तके यस्तु धारयेत् ।
 रविवद् दीप्यते लोके श्रीमान् विश्वप्रियो भवेत् ॥15॥
 तस्योग्ररोग वेतालाः शाकिनी-भूतराक्षसाः ।
 एते दोषा न दृष्यन्ते रक्षकाश्च भवन्त्यमी ॥16॥
 अग्निसर्प भयोत्पाता भूपालाश्चोर विग्रहाः ।
 एते दोषा प्रणश्यन्ति रक्षकाश्च भवन्त्यमी ॥17॥
 जैनरक्षामिमां भक्त्या प्रातरुत्थाय यः पठेत् ।
 इच्छितान् लभते कामान् सम्पदश्च पदे पदे ॥18॥
 श्रावणे शुक्लगेऽष्टम्यां प्रारभ्य स्तोत्र मुत्तमम् ।
 अभिषेकं जिनेन्द्राणां कुर्याच्च दिवसाष्टकम् ॥19॥
 ब्रह्मचर्यं विधातव्यं मेकं भुक्तं तथैव च ।
 शुचिता शुभ्रवस्त्रेण वालंकारेण शोभनम् ॥20॥
 नरो वापि तथा नारी शुद्धा भावयुतोऽपि सन् ।
 दिनं दिनं तथा कुर्यात् जाप्यं सर्वार्थसिद्धये ॥21॥
 एकायां तु विधातव्यम् उद्यापनमहोत्सवम् ।
 पूजाविधिसमायुक्तं कर्त्तव्यं सज्जनैर्जनैः ॥22॥

॥ इति जैनरक्षास्तोत्रम् ॥



स्तोत्र दर्पण



संकलन एवं सम्पादन
श्रमणी गणिनी आर्यिका विशाश्री

प्रकाशन सहयोगी
श्री पदमजी काला, न्यूयॉर्क (अमेरिका)

- कृति - स्तोत्र दर्पण
- आशीर्वाद - परम पूज्य गणाचार्य 108 श्री विरागसागरजी महाराज
- संकलन/संपादन - श्रमणी गणिनी आर्यिका 105 विशाश्री माता
- शब्द शुद्धि - श्रमणी आर्यिका 105 विपश्यनाश्री माताजी
श्रमणी आर्यिका 105 विमुक्तिश्री माताजी
- संस्करण - प्रथम, 1000 प्रतियाँ, 02 अगस्त 2015
- स्थान - जयपुर
- प्रसंग - चातुर्मास स्थापना, जयपुर (राज.)
- श्रुत-अनुमोदक - श्रीमान पदम काला - श्रीमती हंसा काला, न्यूयॉर्क (अमेरिका)

प्राप्ति स्थान -

1. अनूपकुमार जैन (मोन्टो), टीकमगढ़ 94251 46292
2. संघस्थ ब्रह्मचारिणी शिवा दीदी 88904 00834
3. सुनीता मिठया, टीकमगढ़ 7806043166

न्यौछावर राशि : 100/- रुपये (पुनः प्रकाशन हेतु)

टाइप सेटिंग : प्रीति कम्प्यूटर्स, जयपुर

मुद्रक : प्री एलविल सन (राजू भैया)
बी-180, ए-2 मंगल मार्ग, बापू नगर
जयपुर-15 मो. 095092 32733

अनुक्रमणिका

क्रमांक	विषय	पृष्ठ संख्या
01.	श्री णमोकार मन्त्र	1
02.	श्री वज्रपंजरस्तोत्रम्	3
03.	श्री नव देवतास्तोत्रम्	4
04.	श्री मंगलाष्टकस्तोत्रम्	7
05.	श्री भद्रबाहुविरचितम् उवसग्गहरं	13
06.	देव-दर्शन स्तुति	15
07.	श्री अद्याष्टकस्तोत्रम्	17
08.	श्री सुप्रभातस्तोत्रम्	24
09.	श्री लघु स्वयंभूस्तोत्रम्	33
10.	श्री गणधरवलयस्तोत्रम्	45
11.	श्री सरस्वतीस्तोत्रम्	53
12.	श्री सरस्वतीनामस्तोत्रम्	58
13.	श्री वीतरागस्तोत्रम्	61
14.	श्री परमानन्दस्तोत्रम्	66
15.	श्री परमात्मस्वरूप	70
16.	श्री गोम्मटेस थुदि	74
17.	श्री पंच महागुरु भक्ति	78
18.	श्री महावीराष्टकस्तोत्रम्	82
19.	श्री भक्तामरस्तोत्रम्	87
20.	श्री कल्याणमन्दिरस्तोत्रम्	124
21.	श्री एकीभावस्तोत्रम्	153
22.	श्री विषापहारस्तोत्रम्	173
23.	श्री जिनचतुर्विंशतिका-स्रोतम्	202
24.	श्री अकलंकस्तोत्रम्	221
25.	श्री जैनरक्षास्तोत्रम्	235

प्राक् किंचित्

समता सम्हारें श्रुति उचारें वन्दना जिनदेव को।

नित करें श्रुतिरति करें प्रतिक्रम तजें तन अहमेव को॥

श्रमण संस्कृति में श्रमणों के छह आवश्यक कर्तव्य कहे गये हैं - सामायिक, स्तुति, वन्दना, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण और व्युत्सर्ग। इन छह आवश्यकों के बीच साधु-चर्या चलती है। एक भी आवश्यक के अभाव में साधु की चर्या पूर्ण नहीं मानी जा सकती। इन छह आवश्यकों में से प्रत्येक आवश्यक साधु की निर्जरा का ही हेतु है।

प्रस्तुत पुस्तक में स्तुति और वन्दना के रूप में लगभग 25 स्तोत्रों का संकलन किया गया है। आचार्य भगवन् समन्तभद्र स्वामी ने कहा है कि स्तुति करने वाले स्तोता के परिणामों में कुशलता आती है। स्तुति का तात्पर्य है, चौबीस तीर्थकरों का स्तोत्र के माध्यम से गुणगान अथवा अरहंत भगवन्त का अथवा गुरु के गुणों का गान करना। साधु वर्ग अपनी दिनचर्या में प्रातःकाल सामायिक आदि से निवृत्त होकर सामूहिक रूप से मधुर स्वर में स्तुति-वन्दना करते हैं, जिससे कर्मों का क्षय करते हुए पुण्य का अर्जन करते हैं। चारों ओर धर्ममय प्रशस्त शुभ वर्गणायें प्रसारित होती हैं, जिससे समस्त जीवों में विशुद्धि का संचार होता है।

इस संकलन में स्तोत्रों को अर्थ, अन्वयार्थ तथा भावार्थ सहित संकलित किया गया है, क्योंकि जब हम तीर्थकर भगवन्तों की आराधना करते हुए कोई स्तुति-स्तोत्र आदि पढ़ते हैं और उसका अर्थ हमें ज्ञात न हो तो भाव उतना नहीं लग पाता; लेकिन अर्थ के सद्भाव में जो भक्ति स्तुति आदि के द्वारा होती है, वह हमें परमात्मा के निकट खड़ा कर देती है। और यही भक्ति हमें पूर्ण फल को प्रदान करती है। अतः यह संकलन साधुवर्ग के लिए तो उपयोगी है ही, श्रावक वर्ग के लिए भी अत्यन्त उपयोगी है। द्रव्य-गुण-पर्याय से की गयी परमात्मा की भक्ति असंख्यात गुणश्रेणी कर्मों की निर्जरा का साधन है, अतः इससे सभी लाभान्वित होंगे।

इस ग्रन्थ का प्रकाशन कराने के मंगल भाव श्री पदमजी काला, न्यूयॉर्क (अमेरिका) के हुए हैं, जो कि धर्मशील, कर्मठ, गुरुभक्त एवं आदर्श परिवार है। उनके श्रुत-समृद्धि के इन शुभ भावों के लिए मेरा मंगल आशीष है। उनके इन विशुद्ध भावों की उत्तरोत्तर वृद्धि हो।

- श्रमणी गणिनी आर्यिका विशाश्री

जयपुर (राजस्थान)